भूमिका

जैन लोक और अन्य भारत के नगरो मे जहाँ जैन मुनि जनो का गमन होता है कौन सा ऐसा व्यक्ति है जिसने जैन धर्म के धुरन्धर प्रचारक पजाब केसरी जगत भूषण श्री प्रेमचन्द जी महाराज के सुप्रसिद्ध नाम को सुना न हो और उससे परिचित न हो । इस गए गुजरे समय मे, इस कलियुग के समय मे यदि भारत की शान है तो केवल आप जैसे तेजस्वी, आत्मदर्शी जितेन्द्रीय और पुण्यात्माओ के चरण कमलो की कृपा से समाज अथवा महा देश को यदि गौरव है तो केवल आप पर, जैन धर्म को आपकी हस्ती पर नाज है।

आपकी कीर्ति और आपके गुण आज जैन समाज नही बल्कि प्रत्येक जाति के हर व्यक्ति की जिह्वा पर है। आप भारत के शान्ति प्रिय महाकाश के एक प्रकाशमान सूर्य है, आप सयम और त्याग की जीती जागती तसवीर है। आप अपने सिद्धान्त के सत्य पथ पर दृढ-गामी है । इसमे कोई सदेह नही कि कठिन से कठिन समय पर भी आपने अपने पवित्र प्रण और कार्यशीलता के सुदृढ पवित्र आचल को नही छोडा। ससारिक प्रकृति अर्थात् मायावाद की छाया आपको अपनी ओर नही खीच सकती। कोई भी प्रलोभन आपको आपने सत्य पथ से हटा नही सकता। कोई ससारिक विपत्ति या शक्ति आप के मन को निरुत्साहित नही कर सकती। आपका त्याग और संयम अद्वितीय है, आपकी सत्यता, ब्रह्मचर्य्य और सन्तोप अवर्णणीय, आपकी विद्वत्ता अतीव सराहनीय है।

आप समाजिक, साधारण ससारिक वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक धार्मिक तथा आध्यात्मिक विपयो मे से कोई ऐसा विषय नही जिसकी लालसा और प्यास आप अपने ज्ञान भण्डार से शान्त अथवा सतृप्त न कर सके हो।

सूर्य्य को किस वस्तु से उपमा दी जा सकती है, समुद्र की तुलना किस से की जा सकती है, आप सचमुच ज्ञान के प्रकाशमान सूर्य्य है और त्याग के समुद्र है। आप ज्ञान सागर के एक चतुर और महान तैराक है। आप इस ज्ञान रूपी सागर की गहरी से गहरी गहराई से आध्यात्मिकता के अमूल्य मोती निकाल सर्व लोगो के कल्याण के लिये हजार हजार जिह्वा से ससार को दान दे रहे है।

आप को अपनी वानी पर इतना कावू है कि आप जो भी वचन अपने इस पवित्र मुख से फरमाते है वह तुला हुआ और भावपूर्ण होता है। जव आप व्याख्यान फरमाते है ऐसा प्रतीत होता हे मानो कोई सिह गरज रहा है। मुझे अपनी इस थोडी सी जीवन यात्रा मे यदि हजारो नही तो सैकडो वक्तता के भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ परन्तु जो रस, मिठास, प्रेम, सत्यता, कर्मशीलता, आत्मिक शान्ति अथवा प्रसन्नता आपकी पवित्र मनोहर वानी से मिली किसी दूसरे मे नही मिली और न ही मिलने की आशा है।

आप इस सरलता, सुगमता, मधुरता और प्रेम से जो ज्ञानोपदेश देते हे वह सुनने से ही सम्वन्धित है जो भी व्यक्ति पढा लिखा या अनपढ जिसने भी एक वार एक दिन आपकी मनोहर वानी सुनी सदैव के लिये आपका अटूट भक्त वन गया। आपके प्रवचनो अथवा उपदेशो मे स्त्री पुरुप तो क्या वालक और वालिकाएँ भी चचलता को त्याग कर आपके प्रवचन श्रवण मे मन्त्र मुग्ध हो जाते है और आपके

प्रवचन का एक ऐसा ही अवर्णणीय जादू सा चल जाता है मानो हर नर नारी आपके ज्ञान सागर मे गोते लगाने लग जाता है। जनता के हृदयो पर तो आप क्षण भर मे ही छा जाते है और खुशक मानस धरती को आप आन की आन मे मानो सरस बना कर रख देते है।

आप के दिल मे दीन दुखियो के लिये तड़प है।. आप विश्व प्रमी है और विश्व मे शान्ति, सुख और आपसी प्रेम के इच्छुक है। इसी कारण आपके भाषण सर्वकल्याण आत्मुद्धार जैसे विशाल विषयो पर ही होते है। आप एक महान परोपकारी जीव है। इसलिये आपका हर श्वास जीवो के कल्याण के लिये ही अर्पण है। इसीलिये आपके भाषण प्राय जैन समाजगत तथा अन्य भारत गत समाजो मे जो अनुपयोगी कुरीतिया है उनके विरुद्ध है और आप अपने मनोहर व्याख्यानो द्वारा उन कुरीतियो को मिटाने का आकर्षक वर्णन करते है। सचमुच आप लाखो तथा कोटि वक्ताओ मे से केवल एक वक्ता है जिनको यह सौभाग्य प्राप्त है। आप जब भी अपनी मुबारक जबान से बोलते है तो आपका रोम-रोम बोल रहा होता है। इस अतीव शर्दऋतु मे भी आपके पवित्र मस्तक पर पसीना आ जाता है। आपके तेजस्वो मुख से और दिव शरोर से निकलने वाला प्रत्येक स्वेद बिन्दु मानो अमृत बिन्दु होता है।

आपके उपदेश इतने मनोरजक, उपयोगी और आत्मदर्शी होते है कि हर सुनने वाले का दिल सुनते-सुनते उकताता नही है। श्रोतागण प्रवचन श्रवण काल मे इतने मग्न हो जाते है कि वे अपने आपको खोया सा पाते है। इतना ही नही श्रोताओ की इस बात की भी प्रवल भावना होती है कि आपके मुक्त कण्ठ से निकले हुए एक-एक पवित्र वाक्य को लेखवद्ध कर ले। यही कारण है कि

कितने ही स्त्री पुरुष आपके प्रवचन के अपनी शक्ति अनुसार नोट लेते रहते है जो कि आप उनको अनुपस्थित काल मे आत्मबोध देते रहते है।

जो लोग आपके उपदेशों का लाभ नही उठा सकते उन्हे भी आपके उपदेशो का लाभ प्राप्त हो सके इस उद्देश्य को लेकर 'प्रेमसुधा' व्याख्यान माला पुस्तक रूप मे प्रकाशित की जा रही है जिसके प्रथम भाग से लेकर ग्यारहवे भाग तक दस भाग प्रकाशित हो चुके है। कागज के न मिलने के कारण से दसवा भाग प्रकाशित नही हो सका था सो वह भी आपके कर कमलो मे बडे सुन्दर ढग से सजधज कर समाप्त हो रहा है। आशा है कि पाठक जनो ने जिस प्रकार पूर्व प्रकाशित भागो का सादर स्वागत किया है उसी प्रकार इस दसवे भाग को भी अपना कर राष्ट्र, समाज तथा जाति कल्याण के भागी बनेगे।

महाराजश्री जी अपने प्रवचन काल मे जिस सरल, सुगम एव हृदय गम्य भावपूर्णशैली से प्रवचन फरमाते है उसी पद्धति से प्रेम-सुधा नामक व्याख्यान माला के भागो मे भी प्रवचन सकलित किये गये है जिनको पढ कर प्रत्येक मनुष्य सहज मे ही लाभ उठा सकता है। वास्तव मे यह व्याख्यानो का सग्रह हिन्दी पढी लिखी जनता का एक अमूल्य धन है। इसका पढना पढाना जैनो ही नही बल्कि प्रत्येक भारतवासी का परमधर्म है। इससे वह अपने जीवन को उज्जवल, अत्युज्जवल अथवा समुज्जवल बना सकते है।

मेरी यह मनोकामना है कि ऐसी धार्मिक पुस्तके हर पुस्तकालय और हर प्राणि के पास होनी चाहिये और ऐसी पुस्तके

हमारी यूनीवर्सिटी के छात्र-पुस्तकालयो मे भी अवश्य होनी चाहिये जिससे वे सदाचारी बन सके, अपने जीवन सुधार सके, अच्छे नागरिक वन सके और अपने माता-पिता के नेक पुत्र कहलाएँ।

हमारे परम श्रद्धेय प्रात स्मरणीय पजाव केसरी जगत भूषण जी ने अपने इस नवीन भाग की भूमिका लिखने की सेवा मुझ तुच्छ सेवक को सौपी है । चाहिये तो यह था कि इसकी भूमिका कोई विद्वान, आत्मदर्शी लिखता किन्तु यह महाराज श्री जी की उदारता और अतीव कृपालुता है कि यह महान कार्य्य मेरे जैसे अल्प बुद्धि वाले को बखशा है । इस सेवा के लिये मै इनका अतीव धन्यवादी हूँ। मै इस सेवा के योग्य तो न था परन्तु महाराज श्री जी का तुच्छ चरण सेवक होने के नाते उनके पवित्र आदेश पर यह कुछ टूटे-फूटे शब्द लिख रहा हूँ पता नही ये कहा तक ठीक है यह केवल पाठक ही स्वय देखेगे ।

अन्त मे मेरी यह प्रवल इच्छा और मगल अभिलाषा है कि महाराज श्री जी सदैव निरोग रहे । इनकी आयु दीर्घ हो ताकि यह अपने इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपदेश देते रहे और यह मनोहर उपदेश इसी प्रकार भविष्य मे भी प्रकाशित होते रहे, ये सर्व प्रिय हो और दुनिया के लोग इनसे अधिकाधिक लाभ उठाते रहे ।

इत्यिलम सुज्ञेषु कि बहुना ।

ओ३म शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !

जण्डयाला गुरु
अमृतसर
२२—१२—५९

भवदीय
दीना नाथ पुरी
बी एस सी. (आनर्ज) वी टी

"पुस्तक की परिक्रमा"

जीवन क्या है ? विचार और आचार का समन्वय मन मे सकल्प जगता है, उससे विचार वनते है और वे ही विचार कार्य रूप मे परिणत होने पर आचार कहलाते है। विचार आचार का पूर्व रूप है। विचार के अनुरूप ही आचार मे गति-प्रगति होती है। विचारो मे जितनी शुद्धता, सात्विकता एव विराटता होती है, आचार मे भी उतना ही विकास परिलक्षित होता है। आचार-विचारो की क्षुद्रता एव महानता पर आधारित है। आचार को विशुद्ध बनाने के लिए विचारो को विराट बनाने की जरूरत है, मन को माजने एव चिन्तन को मोड देने की आवश्यकता है। क्योकि आचार का मूलाधार विचार है। अत पहले विचारो मे परिवर्तन आता है, फिर आचार मे। दूसरे शब्दो मे यो भी कह सकते है कि विचार के वदलते ही आचार वदल जाता है। दृष्टि के बदलते ही सृष्टि वदल जाती है। विचारो मे, सोचने-समझने की दृष्टि मे सम्यक्त्व आने पर आचरण भी सम्यक वन जाता है। परन्तु जव तक विचारो मे सीधापन नही आता, तव तक आचरण भी सम्यक् नही होता, उसमे भी विषमता वनी रहती है और आचरण के विना सुधरे जीवन का विकास नही होता। अत जीवन-विकास या आत्मोत्थान के लिए विचारो को, बुद्धि को माजना जरूरी है।

भारतीय-सस्कृति—उसमे भी श्रमण-सस्कृति के विचारको ने सव से पहले विचारो को सम्यक् बनाने पर जोर दिया। श्रमण

भगवान् महावीर की भाषा मे कहूँ तो 'पढम नाण तयो दया' अर्थात् पहले ज्ञान फिर दया या पहले विचार फिर आचार। क्योकि ज्ञान के विना आचरण मे जीवन आ नही सकता। अत आचार को अभिनव मोड देने के लिए पहले विचार को सही दिशा की ओर घूमाना होगा और विचारो मे अभिनव ज्योति जगने पर ही आचार मे तेजस्विता आ सकेगी।

इतिहास साक्षी है कि दुनिया मे अवतरित होने वाले महापुरुषो ने मानव के सामने पहले विचारो को माजने की वात कही। उन्होने पहले श्रद्धा को, ज्ञान को, विचारो को सम्यक् वनाने का उपदेश दिया, वाद मे आचरण की बात कही। भगवान् ऋपभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक हुए सभी तीर्थकरो ने पहले दर्शन और ज्ञान को विशुद्ध वनाने की वात कही, उसके वाद आचार का उपदेश दिया। महावीर के वाद हुए आचार्यो ने भी इसी वात को दोहराया या यो कहिए तीर्थकरो की वाणी का गाँव-गाँव मे, गली-गली मे और घर-घर मे प्रचार किया। महापुरुषो के विचारो को फैलाने या जनता के चिन्तन को सही दिशा मे मोड देने वाले सम्यक् विचारो को जगाने का सरल साधन एव सहज मार्ग है—उपदेश या व्याख्यान, व्याख्यान-भापण आज के युग का ही नही, हजारो-हजार शताब्दियो से चला आ रहा है।

अपने विचारो को जनता तक पहुँचाने के लिए स्टेज अत्युत्तम साधन है। भारतीय-सस्कृति के प्रत्येक महापुरुप एव सन्त, महात्मा तथा ऋपि-महर्पि इसका प्रयोग करते रहे है। भगवान् महावीर ने भी अपने प्रवचनो – व्याख्यानो के द्वारा मानव को सोचने-समझने एव अपने आपको परखने-पहचानने के लिए एक दृष्टि दी जो

गणधरो एव पूर्वाचार्यो के सद्प्रयत्न से आगमो के रूप मे आज भी हमारे सामने विद्यमान है। आगम—शास्त्र क्या है ? भगवान् महावीर द्वारा समय-समय पर दिए गए प्रवचनो—भाषणो एव उन से पूछे गए प्रश्नोत्तरो का सग्रह। अस्तु महापुरुषो के विचारो को फैलाने का सरलतम साधन—उपदेश-व्याख्यान है। इसी साधन के द्वारा आचार्य एव सन्त जन जीवन मे सम्यक् विचारो की ज्योति जगाते रहते है।

'प्रेम सुधा' के दसवे भाग तथा इससे पूर्व प्रकाशित नव भागो मे श्रमण भगवान् महावीर के विचारो का ही विश्लेषण किया गया है। 'प्रेम-सुधा के दसो भाग श्रद्धेय मन्त्री मुनि श्री प्रेमचन्द जी महाराज के समय-समय पर दिए गए प्रवचनो—भाषणो का सग्रह है। श्रद्धेय मन्त्री जी महाराज एक अच्छे विचारक एव निधडक वक्ता है। जनता के सामने अपने सही विचारो को रखते समय आप जरा भी भय एव सकोच महसूस नही करते और न आपकी भापा मे लाग-लपेट एव दुराव-छिपाव ही होता है। आपके इसी साहस के कारण लोग आपको पजाब केसरी के नाम से पुकारने लगे। वस्तुत है भी केशरी और केशरी—सिह की तरह ही निर्भयता के साथ गर्जते है। आप भारत के अनेक भू भागो मे घूम आए है। राजस्थान के शुष्क मैदान जिनकी सरस वाणी से आप्लावित हो चुके है। सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, मध्य-प्रदेश, यू पी और दिल्ली के कोने-कोने मे जिनका स्तर गूज चुका है। पजाब के मैदानो मे जो प्रारम्भ से बरसते रहे है और आज भी प्रेम की वर्षा कर रहे है। प्रस्तुत पुस्तक—'प्रेम सुधा' भाग दसवाँ इन्ही की वचनामृतो का सग्रह है।

प्रस्तुत पुस्तक—व्यावर वर्षावास मे विभिन्न विपयो पर दिए गए प्रवचनो मे से वारह प्रवचनो का सग्रह है। प्रथम प्रवचन मे स्याद्वाद् की सरल एव सीधी भाषा मे 'सद्भाव प्रत्याख्यान' का विश्लेपण किया गया है। सद्भाव के त्याग एव अनिवृत्ति भाव की प्राप्ति की वात सापेक्ष दृष्टि से कही गई है। सद्भाव के त्याग का अर्थ—आत्मा मे सदा अस्तित्व रूप रहने वाले गुणो से नही, वल्कि उन मनोविकारो से है, जो आत्मा के गुण न होने पर भी आत्मा मे अस्तित्व रूप से रह रहे है अर्थात् असत् होने पर भी जो. आत्मा मे सद्भाव रूप से भासित हो रहे है और जिनके कारण आत्मा स्व-गुणो से निवृत्त हो रही है। उन काम-क्रोधादि मनोविकारो का परित्याग करना ही सद्भाव प्रत्याख्यान कहलाता है। मनोविकारो का परित्याग करते ही उनका सद्भाव समाप्त हो जाता है और आत्मगुणो की निवृत्ति भी रुक जाती है। इसी वात को मत्री जी म० ने सरल भाषा मे रोचक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

दूसरे प्रवचन मे "जीवन का आदर्श" क्या होना चाहिए, इस का वहुत ही सुन्दर शव्दो मे विवेचन किया गया है। जीवन का आदर्श गिरते हुए व्यक्ति को ऊपर उठाने मे, फिसले हुए कदमो को सहारा देकर खडे रखने मे है, न कि गिरते हुए को धक्का और देकर गिराने मे है। मत्री मुनि जी के शव्दो मे 'दियासलाई जव दूसरो को फूकने जाती है तो पहले स्वय फुक जाती है। दूसरे की झोंपडी तक पहुँच सकेगी या नही, किन्तु ऐ दियासलाई! पहले तो तू ही नष्ट हो जाएगी।"

तीसरे प्रवचन मे "राग-त्याग" का मार्ग वताया गया है। ससार परिभ्रमण के मूल कारण दो ही हैं—राग और द्वेप। द्वेप की

अपेक्षा राग-अनुराग पर विजय पाना कठिन है। द्वेप कटु होने के कारण उससे बच कर रहा जा सकता है, परन्तु राग मधुर होने के कारण उससे बचना कठिन है। इसलिए सब से पहले राग पर विजय पाना जरूरी है। राग पर विजय पाने वाला द्वेप पर सहज ही आधिपत्य जमा लेता है। चौथे प्रवचन मे "आन्तरिक दोष परित्याग" की बात कही है। राग-द्वेष, काम-क्रोधादि दोषो से बचने का एक ही रास्ता है कि मनुष्य व्यक्तिगत, पारिवारिक एव साम्प्रदायिक सकीर्ण काल कोठडियो से निकल कर अपने हृदय को विराट् बनाए, अपने स्वार्थो को सबके स्वार्थो मे विलीन कर दे।

पाँचवे व्याख्यान मे "रोगो की जड" क्या है बताया गया है, तो छठे व्याख्यान मे "शिवरमणी सम्मिलन" का पथ दिखाया है। वस्तुत रोगो की जड विकृति है। जब आत्मा विकारो के कुपथ्य का सेवन करने लगती है तो आतमभाव से दूर हट कर ससार मे परिभ्रमण करती है। मत्री जी म० के शब्दो मे "राग, द्वेष और मिथ्यात्व की यह त्रिपुटी ही इस आत्मा को दुखी बना रही है।" अत राग-द्वेष एवं मिथ्यात्व आदि मनोविकारो से ऊपर उठना ही आत्मा का साक्षात्कार करना है। दूसरे शब्दो मे शिवरमणी से भेट करना है या यो कहिए मोक्ष को प्राप्त करना है। राग-द्वेष एव मिथ्यात्व की त्रिपुटी का नाश करना ही मोक्ष है।

सातवे व्याख्यान मे "अपनी शक्ति को पहचानो" की बात कही है। आत्मा को ज्ञान, दर्शन, सुख-शान्ति आदि शक्तिएँ कही अन्यत्र नही, आत्मा मे ही स्थित है। उसके अन्दर ही अनन्त खजाना छिपा पडा है। आवश्यकता है अज्ञान के आवरण को हटा कर अवलोकन करने की। क्योकि आत्मधन या सुखो का खजाना अन्यत्र

कही नही आत्मा के अन्दर ही विद्यमान है। यह बात आठवे प्रवचन से स्पष्ट हो जाती है। नवे प्रवचन मे बताया गया है कि मोह कर्म के उदय से आत्मा अपने मार्ग से भटक जाती है। वह आत्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन के खजाने को छोडकर राग-द्वेप एव मिथ्यात्व मे भटक जाती है और आत्मधन की दृष्टि से कगाल होकर ससार मे अनन्त वेदनाओ एव यातनाओ को सहती है। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह मोह कर्म जन्य राग-द्वेष एव मिथ्यात्व की 'त्रिपुटी का त्याग' करे। क्यो कि यह त्रिपुटी ही जन्म-मरण एव दु खो का मूल है। इसका उन्मूलन करना ही दु खो से छुटकारा पाना है। कहा भी है—"अग्ग मूल च छिंदइ" दु खो के पत्तो-पुष्पो एव शाखा-प्रशाखाओ का ही नही, उसके साथ मूल का भी छेदन करना चाहिए। मूल का उन्मूलन कर दिया तो पत्र पुष्प एव फलो का उन्मूलन तो स्वय ही हो जाएगा, यह बात दसवे व्याख्यान मे बताई गई है। इन सब का मूल कारण मोह है। इसलिए उसे सब कर्मो का राजा कहा है। उसके उदय मे रहते आत्मा को उद्गान की प्राप्ति नही होती। अत ग्यारहवे प्रवचन मे इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि 'मोह विजय का मार्ग' क्या है और मार्ग को तय करने के लिए गति की आवश्यकता है। भले ही गति धीमी हो, बैठते-उठते चला जाए, परन्तु जीवन मे गति अवश्य होनी चाहिए। यदि व्यक्ति सही दिशा मे कदम बढा रहा है, तो वह एक दिन निश्चित मजिल पर पहुँच जायगा। मन्त्री जी म० के बारहवे व्याख्यान "चलो—भले हौले हौले" का यही सार है।

इस तरह मन्त्री जी म० के सारे प्रवचन विचारो को माजने वाले हैं, चिन्तन को नया मोड देने वाले है, आध्यात्मिक भावना को

जगाने वाले है। इन प्रवचनो मे पाठको को भारत के, श्रमण-सस्कृति के एक जाने माने महान् सन्त के व्यक्तित्व की झलक, आध्यात्मिक साधना की झलक, विचार की झलक, आचार की झलक एव त्याग-विराग की झलक स्पष्ट रूप से मिलेगी। इन प्रवचनो मे प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक साधना साधने तथा पारिवारिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को निभाने की सही दिशा मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

आज हम लोगो मे एक यह रोग लगा है कि हम हर काम के लिए मन्त्री, नेताओ एव प्रसिद्ध व्यक्तियो के द्वार खटखटाते रहते हैं। किसी मकान का उद्घाटन करवाना है तो मत्री को बुलाएँ, किसी पुस्तक की भूमिका लिखवानी हो तो मत्री या प्रसिद्ध विद्वान् के घर की खाक छाने। पर श्रद्धेय मन्त्री जी म० ने इस दिशा मे क्रान्तिकारी कदम उठाया है। उन्होने साधारण व्यक्तियो को सोचने विचारने एव अपने अनुभव प्रकट करने का भी अवसर दिया है। यह उनकी महान् कृपा है कि उन्होने मेरे जैसे साधारण विचारक को 'प्रेम-सुधा' के दसवे भाग की भूमिका लिखने को कहा। मैने पुस्तक के प्रथम पृष्ठ को खोला तो ऐसा लगा कि पुस्तक छोडते ही न बना, सारी पुस्तक की परिक्रमा कर गया और वह परिक्रमा आपके सामने है। पुस्तक धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक एव राष्ट्रीय हर दृष्टि से सग्रहणीय है।

जैन स्थानक
फगवाडा (पजाब)
दिनाक २२—१२—५९

—मुनि समदर्शी (आईदान)

शीर्षकों का हार

सद्भाव-प्रत्याख्यान

उपस्थित महानुभावो !

शास्त्र मे उल्लेख है कि शिष्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया—

'सब्भावयच्चक्खाणेण भते ! जीवे कि जणयइ ?'

अर्थात्—हे गुरुदेव ! सद्भाव का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

किसी चीज के अस्तित्व को सद्भाव कहते है और न होने को अभाव कहते है। तो यहाँ सद्भाव के प्रत्याख्यान से क्या लाभ होता है, यह प्रश्न किया गया है। किन्तु सद्भाव तो जीव, अजीव आदि नौ ही तत्त्वो का, विश्व के समस्त पदार्थो का है। दूसरे शब्दो मे धर्मास्ति आदि छहो द्रव्यो को विश्व मे सद्भाव है। तो क्या शास्त्रकार सभी पदार्थो के त्याग का विधान कर रहे है ? जब सद्भाव का त्याग कर दिया जायगा तो फिर शेष क्या रहेगा ?

सज्जनो ! इन्ही बातो को समझने की आवश्यकता है। सभी वस्तुओ का सदभाव है तो उनका त्याग करने का अर्थ क्या ? और हमारे त्याग करने से उन वस्तुओ का बनता-बिगडता क्या है ? सभी सद्भाव वाली वस्तुओ का त्याग सभव भी कैसे है ? क्या सवर, निर्जरा और मोक्ष का भी त्याग कर दिया जाय ? शरीर का भी 'वोसिरामि' कर दिया जाय ?

जिस पदार्थ का जो स्वभाव है, वह उससे पृथक् कदापि नही हो सकता। आत्मा मे आत्मभावी जिन चीजो का सद्भाव चला

आता है, उनमे छोडने योग्य तो कोई नही है । ज्ञान-दर्शन आदि का सद्भाव होने पर भी वे छोडे नही जा सकते। उनका छोडा जाना अभीष्ट भी नहो है। प्रत्याख्यान आत्मा के कल्याण के लिए है, अतएव जो चीजे आत्म-कल्याण मे प्रतिवधक है, उन्ही को छोडना उचित है और इस कारण सद्भाव-प्रत्याख्यान का मतलव यही हे कि जीव के साथ जो क्रोध, मान, माया लोभ, राग-द्वेष आदि भाविक पदार्थों का सद्भाव चला आ रहा है, उसका त्याग करना चाहिए। इनका त्याग किया जा सकता है और त्याग करना आत्मकल्याण के लिए आवश्यक भी है।

यद्यपि आत्मिक विकारो का भण्डार अक्षय है, फिर भी व्यक्तिगत इनका विनाश किया जा सकता हे, त्याग किया जा सकता है। इनका समष्टिगत अभाव न कभो हुआ है और न कभी होगा।

इस प्रकार सद्भाव के प्रत्याख्यान का अर्थ यह निकला कि आत्मा के साथ जिन विरोधी तत्त्वो का सद्भाव है, उनका त्याग करना चाहिए। ये विरोधी तत्त्व आत्मीय गुणो के घातक है, उन्हे हानि पहुँचाने वाले है। अतएव अपने घर को इनसे बचाए रक्खो, इन्हे अपनी आत्मा मे प्रविष्ट मत होने दो। यों समष्टिगत तो इनका सिलसिला चलता ही रहेगा।

सद्भाव का प्रत्याख्यान करने मे आत्मा मे अनिवृत्तिभाव की प्राप्ति होती हे।

अभी उपरोक्त एक गुत्थी सुलझाई तो दूसरी उलझन फिर सामने आ गई। विचारणीय यह है कि निवृत्तिभाव अच्छा है या अनिवृत्तिभाव ?

आप लोग विचार मे पड गये। आप निवृत्तिभाव को त्याग को ही अच्छा मानते आये है और यहाँ अनिवृत्तिभाव रूप गुण की प्राप्ति बतलाई है, तो अनिवृत्ति को गुण मान लिया है। किन्तु सज्जनो! यदि मस्तिष्क को और श्रोत्रेन्द्रिय को स्थिर करके सुनोगे और समझने का प्रयास करोगे तो कठिनाई भी आसानी वन जायेगी। यदि हम इन शब्दो के अन्तरग भाव को समझने का प्रयत्न नही करेगे तो घोटाले मे पड जाएँगे।

तो बात यह है कि सद्भाव का प्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारो का त्याग जो करता है, अपने तपोबल एव ज्ञानबल से जो इन्हे निर्मूल कर देता है और इनके सद्भाव का अभाव कर देता है, उसे अनिवृत्तिभाव की प्राप्ति होती है। यहाँ समझना यह है कि किसी चीज का सद्भाव अच्छा है और किसी चीज का अभाव अच्छा है। जैसे घर मे कूडे कचरे का अभाव अच्छा है और हीरा, माणिक, मोती, सोना, चाँदी आदि का सद्भाव अच्छा है। तथा अच्छे पुरुषो का एव धर्म का होना अच्छा है और अभद्र व्यक्तियो का एव दुर्गुणो का नही होना ही अच्छा है। इसी प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र तप आदि आत्मीय गुणो का सद्भाव होना ही अच्छा है। इनका अभाव होना आत्मा का दिवाला निकालना है। इसी प्रकार आत्मा के विरोधी तत्त्वो का अभाव होना ही अच्छा है।

सज्जनो! मैने कहा था कि घर मे कूडा-कचरा न होना ही अच्छा है ताकि घर स्वच्छ रहे और वायुमण्डल भी स्वच्छ रहे। घर मे कूडा-कचरा रहने से अनेक प्रकार की वीमारियो के उत्पन्न हो जाने की सभावना रहती है। यही कारण है कि घर को साफ रखने के लिए आप उसे पानी से धोते है, नालियो मे फिनाइल डालते है, ताकि कीटाणु उत्पन्न न हो।

तो इस आनन्द-मन्दिर मे अनादि काल से काम-क्रोध आदि का जो कूडा-कचरा जमा हो गया है और होता ही जा रहा है, उसे अपने ज्ञान तथा तप के बल से बाहर निकाल फैंकने की आवश्यकता है। जो उस कूडे-कचरे का आत्मा से अभाव करते है उन्हे अनिवृत्ति भाव की प्राप्ति होती है। अर्थात् काम, क्रोध आदि विरोधी तत्त्वो के सद्भाव का प्रत्याख्यान करने मे अनिवृत्तिभाव की प्राप्ति होती है और निवृत्तिभाव की प्राप्ति नही होती।

आशय यह निकला कि पापो से निवृत्ति होना ही सद्भाव का त्याग है। बुरी बातो से निवृत्त होना अच्छा है और उनसे निवृत्ति होनी ही चाहिए। ऐसा होने पर ही आत्मा मे आत्मिक गुणो की जागृति होती है।

यहाँ अनिवृत्तिभाव शब्द पापो को छोडने के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् अपने चुने हुए मार्ग से—निश्चित मार्ग से निवृत्ति नही करना है, जो सच्चा मार्ग है, करने योग्य कर्त्तव्य है, आचरणीय है, जिस पर साधक अग्रसर हुआ है, वह उससे पीछे नही हटता है। तो सक्षेप मे अनिवृत्तिभाव का अर्थ हुआ—श्रेष्ठ मार्ग से पीछे न हटना। साधक उस मार्ग पर निरन्तर गतिशील होता चला जाता है। त्याग और वैराग्य के पथ मे तो निवृत्ति न होकर प्रवृत्ति ही होनी चाहिए। साधक ने साधना का जो पथ अगीकार किया है, वह उससे अनिवृत्त ही रहेगा। वह उस मार्ग से निवृत्ति नही करेगा, बल्कि उसमे प्रवृत्ति करेगा।

प्रश्न यह है कि साधक में उस निर्धारित मार्ग से नही हटने की और आगे ही आगे बढने की क्षमता कब आएगी ? इसका उत्तर यह है कि ज्यो-ज्यो उसमे राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि का अभाव

होता जायगा, त्यो-त्यो वह उस मार्ग पर दृढ होता जायगा। जो मनुष्य धर्म के मार्ग पर और मोक्ष के मार्ग पर आगे से आगे बढना चाहता है, उसे आत्मा मे विद्यमान विरोधी तत्त्वो की सत्ता को निर्मूल करना होगा। जो त्रुटियाँ, कमियाँ और भूले हमे मार्ग से विचलित करती है, पथ-भ्रष्ट कर देती है, उन्हे दूर किया जाना चाहिए। उन त्रुटियो को दूर किये बिना मनुष्य अपने ध्येय पर अटल नही हो सकता और आगे नही बढ सकता। इस प्रकार जो परिस्थितियाँ और खामियाँ पथभ्रष्ट करने वाली है, उनके दूर होने पर अनिवृत्तिभाव प्राप्त होता है। फिर वह साधक अपने धर्मपथ से पीछे नही हटता है और आगे ही बढता जाता है।

यह स्थिति तभी प्राप्त होती है जब जीवात्मा अनिवृत्तिभाव को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् अपने निर्धारित मार्ग से पीछे नही हटने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

यह अवस्था किसको प्राप्त होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गृहस्थभावी क्रिया करने वाले को यह स्थिति प्राप्त नही होती, बल्कि ऋषियो, मुनियो और अनगारो को प्राप्त होती है।

'ऋषि' शब्द रिष् धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना अर्थात् ऋषि वही है जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियो को अपने कुटुम्ब के रूप मे देखता है। शास्त्र मे कहा है— 'नाणेण मुणी होइ।' अर्थात् ज्ञानपूर्वक मौन रखने वाला ही मुनि पद का अधिकारी होता है। तथा 'तवेण होइ तावसो' अर्थात् तप करने से तपस्वी होता है।

तो मुनि वही है जो पाप के विषय मे मौन रक्खे। जहाँ कर्मबध की बात हो, जिससे आत्मगुणो का घात हो, वहाँ मौन

धारण करना ही मुनि का कर्त्तव्य है। यही नही, वह पाप का वध करने वालो को भी अपनी मर्यादा के अनुसार समझाता है कि तुम अपनी आत्मा को क्यो पतन की ओर ले जाते हो ? वह मान जाय तो उत्तम है, अन्यथा अपने आपको तो पाप से बचा ही ले। आखिर लोटे का पानी छाना जा सकता है पर नदी, तालाब अथवा कुआँ तो नही छाना जा सकता ?

तो पाप कर्मो मे जो मौन रखता है उसे 'मुनि' कहते है। पाँच महाव्रतो को धारण करने वाले को 'व्रती' कहते है। आत्मसाधना करने के कारण वह 'साधक' कहलाता है और इन्द्रियो को सयत रखने से 'सयमी' कहा जाता है। साधु के कोई घर-बार नहीं होता, अतएव वह 'अनगार' कहलाता है। तवेण होइ तावसो' विविध प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या करने के कारण वह 'तापस' पद से भी अभिहित होता है।

शास्त्रकार कहते है कि जो कठोर साधना करके अनिवृत्ति-भाव को प्राप्त हो गये है, जो अपने ध्येय पर दृढ हो गये है, उन्हे दुनिया का कोई भी प्रलोभन निर्धारित पथ मे विचलित नही कर सकता। इस प्रकार की दृढता और अनिवृत्तिभावना तभी आती है जब आत्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ विषयविकार आदि को जीत लेता है। मोहनीय आदि चार घातिया कर्मो के नष्ट होने ही उसे केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त हो जाने के बाद सिर्फ चार अघातिक कर्म ही अवशिष्ट रह जाते है।

सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है। मोह क्षय हो जाने से आत्मा मे एक प्रकार की लघुता आ जाती है। तत्पश्चात् ज्ञान-

दर्शनावरण कर्मों के क्षय से आत्मा की स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-दर्शनमय चेतना आविर्भूत हो जाती है, जिससे आत्मा को सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की प्राप्ति होती है। अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्तशक्ति के धारक हो जाते है।

यह उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी केवली की आत्मा मे नाम कर्म की बहुत सी प्रकृतियाँ शेष रहती है। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये तो क्या हुआ अभी मनुष्य तो है ही। जाति से पचेन्द्रिय जाति मे है। यह सब नामकर्म के उदय का परिणाम है। अतएव केवली मे नामकर्म पाया जाता है। गोत्रकर्म की भी सत्ता केवली मे होती है—उनको उच्चगोत्र कर्म का उदय है। वेदनीय कर्म के उदय से जनित वेदना भी उनको होती है, यह बात दूसरी है कि वे अपनी अनन्त शक्ति से उसे सहन कर लेते है। बाईस परीषहो मे से ग्यारह परीषह भी केवलियो को हो सकते है। भूख लगने पर वे आहार ग्रहण करते है, यद्यपि वे हमारी तरह भूख से आकुल-व्याकुल नही होते।

भगवान् ऋषभदेव स्वामी की चौरासी लाख पूर्व की आयु थी। वे साधु बने और तपश्चरण के अनन्तर केवली हो गये। केवल अवस्था मे उन्होने लाखो पूर्वो का जीवन व्यतीत किया। इतने अर्से तक अन्न के विना शरीर कैसे ठहर सकता है? यद्यपि अन्तराय कर्म के उदय से उन्हे एक वर्ष तक आहार-पानी नही मिला था, किन्तु उनमे वज्रऋषभनाराच सहनन के पुद्गल थे, जिनके कारण वे उस समय को शान्तिपूर्वक निकाल सके। फिर भी यह तो निश्चित है कि यह शरीर अन्न-पानी पर आश्रित है। अन्न-पानी से ही शरीर मे रक्त, मास, अस्थि, वीर्य आदि का निर्माण होता है। अन्न-पानी न

मिलने पर शरीर सूख कर काटा हो जाता है। भगवान् ऋषभदेव ने आखिर एक वर्ष पश्चात् भोजन लिया ही था।

इसी प्रकार केवली मे आयुकर्म का भी उदय है। यद्यपि उन्हे मोक्ष का प्रमाणपत्र मिल गया है, फिर भी आयु कर्म ने उन्हे ससार मे बाँध रक्खा है। उस आयु को भोगे बिना वे मोक्ष मे नही जा सकते—निर्वाण नही प्राप्त कर सकते। जो आयु कर्म उन्होने बाँधा है, उसे तो भोगना ही पडेगा।

तो ऐसे केवली भगवान्, जिन्होने अनिवृत्तिभाव प्राप्त कर लिया है, जो आगे ही जाना सीखे है किन्तु पीछे हटना नही जानते, जिन्हे किसी प्रकार का भय नही रहा है, जिन्होने विषयविकार के कटकाकीर्ण और पापमय मार्ग को पार कर लिया है, उन्हे मोक्ष प्राप्त करना ही शेष रह गया है। जब शेष रहे हुए चार अघातिया कर्म भी नष्ट हो जाएँगे तब सिद्ध बुद्ध अजर अमर अविनाशी पद को प्राप्त होगे। उन्ही के सब कार्य सिद्ध होते है। जो कितने ही कष्ट एव विघ्न आने पर भी अपने पथ से, ध्येय से विचलित नही होते। वे सच्चे साधक सदा के लिये सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते है। वे पुनीत आत्माये अनन्त अक्षय ज्योति का पुज बन जाती है और समस्त दु खो से मुक्त हो जाती है। वे आत्माएँ शरीर से मुक्त है, अतएव शारीरिक और मानसिक वेदनाओ से एव समस्त प्रकार की आधि व्याधियों से भी छुटकारा पाये हुए है।

यह सब किसका फल है ? सद्भाव के अर्थात् आत्मा मे विद्यमान राग-द्वेष आदि विकारो के प्रत्याख्यान का ही यह सुपरिणाम है।

तो मैं कह रहा था कि जो सद्भाव का अर्थात् विरोधी तत्त्वो का त्याग कर देते है और अपनी आत्मा को सत्पथ का पथिक बना लेते है, वे मुक्ति प्राप्त करते है। उनकी आत्मा मे अलौकिक प्रकाश चमकने लगता है।

सज्जनो ! यह आत्मा अनन्त-अनन्त सूर्यो के प्रकाश को लिये हुए है—उनसे भी बढ कर प्रकाश वाली है। पर यह प्रकाश का प्रश्न बहुत विचारणीय है। इस प्रकाश की पहेली मे बडे-बडे साधक भी उलझ जाते है। इस समस्या को सुलझाना हरेक के वश की बात नही है। बडे-बडे पण्डित, शास्त्रज्ञ और कर्म योगी इस अटवी मे जाकर मार्ग भूल जाते है और कही के कही जा पहुँचते है।

एक समय की बात है कि राजा का दरबार लगा हुआ था। मुसद्दी, वजीर और बडे-बडे अहलकार तथा राज-पण्डित उपस्थित थे। राजा स्वय विद्वान् था और विद्वान् होने के कारण विद्वानो का बहुत आदर-सत्कार करने वाला था। जो स्वय विद्वान् होता है वह विद्वानो की कद्र करता है, जो खुद निरक्षर महाचार्य अर्थात् मूर्ख हो, वह विद्वानो की कद्र नही कर सकता। नीति-कार कहते है —

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्ष,
स त सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजाताम्,
मुक्ता परित्यज्य बिभर्त्ति गुञ्जाम।

अर्थात्—जो जिसके उत्तम गुणो को नही पहचानता वह उसकी कद्र नही करता, यही नही, वह उसकी निन्दा भी करता है। वेचारी भीलनी गजमुक्ता को छोड कर चिरमी ही ग्रहण करती है। वह हीरो, पन्नो और मोतियो का मूल्य नही समझ सकती, चिरमियो को ही वहुमूल्य मान कर धारण करती है और खुश होती है। परन्तु कोई राजरानी या सेठानी उस भीलनी के जेवरो को पहन कर खुश नही हो सकती, क्योकि आखिर चिरमी चिरमी ही है और मोती मोती ही है।

तो भीलनी भले चिरमी ग्रहण करके अपने आपको धन्य मान ले किन्तु जो बुद्धिशाली है, रत्नो का पारखी है, वह उसे देख कर प्रसन्न नही हो सकता।

मूर्ख सोचता है—मोती मे तो एक ही रग है जब कि चिरमी मे दो रग है— लाल और काला। यह दुरगी दुनिया है। मगर जो दो रगो को छोड कर एक हो जाता है, वह कीमती मोती वन जाता है।

जो दुरगी चाल चल रहा है, वह समाजघातक है। यदि सख्त ही होना है तो पत्थर वन जा और नरम ही होना है तो मोम वन जा। वीच की लचरपचर नीति अच्छी नही है। यह नीति वडी खतरनाक है। जहाँ स्वार्थ साधना हो वहॉ वडी नम्रता से 'आइए, पधारिए साहिव' कहना और जव समाजोद्धार का, धर्मप्रभावना का और धर्मोन्नति का प्रश्न उपस्थित हो जाय और वलिदान देने का मौका आ जाय तो उस समय पत्थर की तरह कठोर वन जाते है। कदाचित् पत्थर पिघल जाय मगर वे मॉ के

पूत नही पिघलते है। ऐसो दुरगी चाल चलने वाले कभी मजिल पर नही पहुँच सकते।

हाँ, तो राजा का दरवार लगा हुआ था और अनेक प्रकार की राजकीय चर्चाएँ चल रही थी। प्रकाश की समस्या भी बड़ी विचित्र है। राजसभा मे भी प्रकाश सम्बन्धी चर्चा चल पडी। विद्वान् होने के कारण राजा विद्वानो का खूब आदर करता था और उसके दरवार मे अनेक उच्च कोटि के विद्वान् रहते थे।

आज इस देश मे सस्कृत साहित्य के विद्वान् गलियो में भटकते फिरते है और बडी मुश्किल से उन्हे आजीविका का साधन मिलता है। जो अग्रेजी जैसी विदेशी भाषा के उपाधिधारी है, उन्हे फौरन ऊँचा ओहदा मिल जाता है, किन्तु सस्कृत भाषा के वडे-वडे विद्वान् महामहोपाध्याय, आचार्य और शास्त्री वेचारे शाक-भाजी की तरह विकते है। इस प्रकार आज भौतिकवादियो का सन्मान किया जाता है, जो वडी-वडी विस्फोटक और सहारक चीजे तैयार कर सकते हैं। जो भारतीय सस्कृति एव साहित्य के वेत्ता है, आत्म-वेत्ता है, अध्यात्मवादी है, उन्हे कोई पूछने वाला भी नही मिलता।

गुणो की कद्र वही कर सकता है जो स्वय गुणी हो। जौहरी ही जवाहरात की परीक्षा कर सकता है, वेचारे कूजडे उनकी क्या परख करेगे। वे तो शाक-भाजी वेचने वाले है।

तो प्रकाश का प्रसग छिड गया तो राजा ने सोचा—जव यह विषय चल पडा है तो आज इसी विषय मे इन पण्डितो के दिमाग की परीक्षा कर ली जाय। देखा जाए कि कौन कितने गहरे पानी मे है ? किसका मस्तिष्क कितना उर्वर है।

राजा ने सुन्दर अवसर जान कर सब के सामने एक समस्या रख दी। कहा—पण्डितगण, बताइए, सब से उत्तम प्रकाश किसका है।

सभी पण्डितो ने राजा के प्रश्न को भली-भाँति सुन लिया और वे उस पर विचार-मनन करने लगे। फिर एक पण्डित खड़ा हुआ और कहने लगा—ससार मे सब से अधिक निखरा हुआ और समस्त लोक को उद्भासित करने वाला प्रकाश यदि कोई है तो वह सूर्य, भानु भास्कर, दिवाकर, दिनकर या आफताब का है। सूर्य के उदय होते ही अखिल भूमण्डल आलोक से आलोकित हो उठता है। अन्धकार क्षण भर मे सर्वथा विलीन हो जाता है। अतएव सब से उत्तम, उग्र, प्रचण्ड और उद्दाम प्रकाश सूर्य का ही है।

इतनी बात तो प्रत्येक समझता है और राजा भी समझता था। फिर भी उसने जो प्रश्न किया तो उसमे कुछ गहराई होनी चाहिए। उसे समझना चाहिए था कि राजा ऊपर ही ऊपर नही तैर रहा है। उसने गहरा गोता लगाया है। उसे गहरे दिमाग से उत्तर देना था।

राजा ने सोचा—हरएक के विचार सुनने ही चाहिएँ और सुने बिना यथार्थ निर्णय नही हो सकता। जब पण्डित जी की सूर्य के प्रकाश की कहानी पूर्ण हो गई तो राजा ने कहा—ऐसा हो सकता है, परन्तु क्या इससे भी बढ़िया प्रकाश किसी और का हो सकता है ?

तब दूसरा पण्डित खड़ा हुआ और बोला—मैं पहिले वाले पण्डित जी का समर्थन करता हूँ कि सूर्य का प्रकाश सबसे अधिक उग्र है, किन्तु सूर्य-प्रकाश के अलावा भी एक उत्तम प्रकाश है जो

अतीव शीतल और सुहावना होता है। वह सुधानिधि चन्द्रमा का प्रकाश है। सूर्य का प्रकाश ऊष्ण और त्रासजनक होता है। जब तरणि अपने पूर्ण तारुण्य पर पहुँचता है, मध्याह्न मे अपनी उत्तप्त किरणे विकीर्ण करता है तो प्राणि मात्र त्राहि-त्राहि करने लगते है। सूर्य के प्रकाश मे यही सबसे बडा दोष है।

चन्द्रमा का प्रकाश कितना शीतल, कितना शान्ति दायक, कितना आह्लादकर और कितना सौम्य है! कोई सूर्य को ओर टकटकी लगा कर देख ले तो उसे सूर्य इतना कठोर दड देता है कि उसका देखना ही बद हो जाता है। कम से कम नेत्रो को क्षति तो अवश्य पहुँचती है। इसके विपरीत, चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाने से नेत्रज्योति की वृद्धि होती है। नेत्रो की परिश्रान्ति दूर हो जाती है। पूर्णमासी की धवल रजनी मे जब चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओ के साथ प्रकाशित होता है और उसकी चन्द्रिका महीमण्डल पर फैलती है तो समस्त पदार्थ ऐसे प्रतीत होते है मानो दूध के धोये हुए हो। उस समय कवियो की कमनीय कोमल कल्पना बरबस अगडाइयाँ लेती हुई उठ खडी होती है और उनके करकमल कलम की ओर जा पहुँचते है। चन्द्रमा उनके अन्तरतर के विविध सुप्त भावो को जागृत कर देता है। ऐसा सुहावना और चित्त को प्रफुल्लित कर देने वाला प्रकाश निशापति चन्द्रमा का है। कुमुदिनी भी चन्द्रमा का प्रकाश होने पर ही विकसित होती है। अतएव मेरी सम्मति मे सब से उत्तम प्रकाश चन्द्रमा का है।

इस प्रकार दूसरे पण्डित ने अपना अभिप्राय प्रकट किया और अपनी रामायण समाप्त की।

उसके यथास्थान बैठ जाने के पश्चात् तीसरा पण्डित खडा हुआ और कहने लगा—राजन् ! पहले पण्डित जी ने सूर्य के और दूसरे पण्डित ने चन्द्रमा के प्रकाश को उत्तम बतलाया है। किन्तु मुझे निस्संकोच रूप मे कहना चाहिए कि इन विद्वानो की दृष्टि बडी-बडी की तरफ ही गई है छोटे प्रकाशो की तरफ नही गई। इनके नेत्र स्थूल पदार्थो को ही देखते है, सूक्ष्म को नही देख पाते। मेरी सम्मति मे सूर्य और चन्द्रमा के स्थूल प्रकाश से भी एक उत्तम छोटा-सा प्रकाश है। सूर्य उदित होता है तो वह बडे-बडे पहाडो, नदियो, नालो, मकानो आदि को तो प्रकाशित कर देता है किन्तु अधेरे भौयरे (भूगृह) को प्रकाशित नही कर सकता। मगर एक छोटा-सा मिट्टी का दीपक जला लिया जाता है तो वह उस भौयरे के गहन अधकार को क्षण भर मे विनष्ट कर देता है। अतएव मेरे विचार मे दीपक का प्रकाश अत्यन्त उपयोगी होने से सब से बढिया है।

याद रखिए, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य भी अधकार का प्रतीकार करने मे असमर्थ सिद्ध होते है, वहाँ उस अधकार को दूर करने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह छोटा-सा दीपक ही है। जो उदारता छोटे-से दीपक मे है, वह न सुर्य मे है और न चन्द्र मे ही है। अतएव दीपक को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए।

किसी भी इकाई को छोटी समझ कर, किसी बिरादरी, राष्ट्र, सस्था या समाज को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा करना, उसका निरादर करना और उसका समुचित मूल्य न आकना अत्यन्त अनुचित है। ससार को दोनो की छोटो और बडो की—

आवश्यकता है। छोटो का काम छोटो से और बडो का काम बडो से होता है । जब मकान बनवाया जाता है तो छोटी और बडी दोनो ही तरह की ईटे काम मे लाई जाती है । लेकिन याद रखना भक्तो! दीवार मे जो मजबूती छोटी ईटो से आती है, वह बडी ईटो से नही आती। कदाचित् मकान मे से एक बडी ईट खिसक जाती है तो फिर सब का गिरना शुरु हो जाता है । छोटी-छोटी ईटो से जो दीवार बनी होगी, वह यदि भूकप से, वर्षा के आधिक्य से या और किसी कारण से गिरती है तो पूरी की पूरी दीवार गिरती है या बिल्कुल नही गिरती है । तो वह छोटी ईटे कहती है—यदि हम जियेगी तो साथ मे जियेगी और मरना होगा तो भी साथ मे ही मरेगी। एक-एक करके, अलग-अलग हमे मरना और जीना नही आता।

तो सज्जनो! इस प्रकार की उदारता बनाये रखने की आवश्यकता है और वह छोटो मे मिल सकती है । आज आप प्रत्यक्ष ही देख रहे है कि मजदूर सगठनो मे और छोटी-छोटी इकाइयो मे अपने भाइयो को अपनाने की जो उदारता है, वह बडी-बडी जातियों मे, वर्गो मे नही पाई जाती । किसी मिल, फैक्ट्री या कारखाने से एक मजदूर को पृथक् कर दिया जाता है तो शेष मजदूर उसकी मदद मे हडताल कर देते है। अपनी माग को पूरी करने के लिए भी सब मिल कर हडताल कर देते है । इस सगठन के बल पर उन्हे प्राय सफलता भी मिलती है । सरकार को भी उनके सगठन के सामने झुकना पडता है ।

मजदूर वर्ग का सकल्प है कि हम जीयेगे तो अपने साथियो के साथ जीयेगे और मरेगे तो भी एक दूसरे की भलाई के लिए ही मरेगे ।

मगर जो अपने आपको चन्द्रमा और सूर्य मान बैठे है तथा आकाश मे लटक रहे हैं, उनमे सगठन की यह भावना नही है। आज समाज मे जो नये-नये प्रश्न खड़े हो रहे है, वे झगडे के प्रश्न ही खडे न होते यदि उन बडो मे सगठन की भावना होती।

तो समाज मे छोटी और बडी ईटो की भी आवश्यकता है। जहाँ बडी दरार होती है वहाँ बडी ईटे भरते है और जहाँ जगह खाली रह जाती है, बडी ईट नही समा सकती है उस जगह की पूर्त्ति छोटी ईट लगा कर की जाती है। इसलिए बडी ईटो की ओर दृष्टि रख कर छोटी ईटो की उपेक्षा मत करो।

ओ बडी ईट, जहाँ तुझसे काम नही चलेगा, वहाँ तेरी जगह छोटी ईट काम आएगी और वही उस जगह की पूर्त्ति करेगी। अगर तुमने छोटी ईटो को सभाल कर नही रक्खा तो याद रखना, उस जगह की पूर्त्ति के लिए तुमको ही अपने सिर फुडवाने पडेंगे।

दीवार तो आवश्य वन कर ही रहेगी और मजबूत बनेगी। अत बेहतर यही है और अक्लमदी इसी मे है कि बडी ईटे और छोटी ईटे को-ओपरेशन (सहयोग) कर ले, मिल कर रहे। इसी मे दोनो की आन और शान है। यदि बडी ईटे अपने घमड मे ही रही और उन्होने छोटी ईटो की उपेक्षा की तो याद रखना, उस मकान बनाने वाले राज के हथौडे बडी ईटो पर ही पडेगे। तुम्हारे टुकडे-टुकडे करके उस दरार को भरना होगा और मजबूत बनाना होगा। इसलिए तुम बडी ईटे होने का घमड मत करो और छोटी ईटो से सम्पर्क एव प्रेम भाव बनाये रखो, ताकि तुम भी अपने स्थान पर बनी रहो और छोटी ईटो की भी शान चमकती रहे। ऐसा करने मे वे भी तुम्हारी सहायक बन सकेगी।

भद्र पुरुषो ! जाति, समाज, सघ का कार्य करने के लिए बड़ो की भी जरूरत रहती है और छोटो की भी । जहाँ थोडी जगह भरनी है वहाँ छोटो की आवश्यकता है और वडी जगह की पूर्त्ति करने के लिए वडो की आवश्यकता होती है । छोटी जगह पर छोटी और वडी जगह पर बडी ईटे लगा करती है । छोटी जगह मे वड़ी ईट लगाना चाहोगे और वडी जगह मे छोटी से काम निकालना चाहोगे तो काम नही वनेगा ।

यदि किसी का भी नुकसान नही करना है और दोनो को सही-सलामत जिदगी वसर करनी है तो बडी जगह की पूर्त्ति बडे करे और छोटी जगह छोटे सभाले । वडी ईटो को किसी समय काम मे तो आना हो पडेगा । उन्हे पूजने के लिए तो वडी नही वनाया गया है, काम मे आने के लिए ही वनाया गया है । अतएव दोनो अपना-अपना फर्ज समझ कर अपनी-अपनी जगह लग जाएं तो समाज-जाति-राष्ट्र-सघ फलेगा-फूलेगा और उत्तरोत्तर विकास करता जायगा । दोनो समाज रूपी भवन को पूरा करने मे लग जाएँगे तो सुन्दर भवन निर्मित हो जायगा और सब को आश्रय तथा आराम मिलेगा ।

अरे, क्या तू अपना मकान वनाने के भी योग्य नही है ? सव चाहते है कि सर्दी, गर्मी और वर्षा से हमारी रक्षा हो, किन्तु माँ के पूत ईट वन कर लगने को तैयार नही है । यह कोई मदारी का रुपया नही है जो छू-मन्तर कहते ही हाथ मे आ जायगा । रुपया तो वनाने से ही वनेगा ।

हाँ, तो तीसरे पण्डित ने कहा—घर के अन्दर तहखानों मे तथा भौयरो मे यदि कोई चन्द्र या सूर्य प्रकाश करने वाला है तो वह छोटा-सा दीपक ही है ।

सज्जनो, जैन शास्त्रो ने भी छोटे-से दीपक की उपेक्षा नही की है। किन्तु तुम लोग आज उनके प्रति उदासीनता दिखाते हो। उनको कोई कीमत ही नही आँकते । मगर तुम जिन चन्द्रमा और सूर्य को ही सर्वेसर्वा समझ बैठे हो, वे तो ठीक है, किन्तु याद रहे चन्द्र-सूर्य जहाँ काम नही कर सकते, वहाँ छोटा-सा दीपक काम कर जाता है।

सज्जनो! जैन सिद्धान्त कितना उदार है! उसने तीर्थंकरो को 'चदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासयरा' अर्थात् भगवान् चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल है और सूर्य से भी अधिक प्रकाशक है, ऐसा कह कर जहाँ जैनशास्त्र के निर्माताओ की दृष्टि आकाश मे सूर्य और चन्द्रमा की तरफ गई, वहाँ उनकी दृष्टि छोटे-से दीपक को भी अनदेखा न कर सकी। वह भी उनकी दृष्टि से ओझल नही रह सका । 'लोगस्स' के पाठ मे तीर्थंकरो की स्तुति और महिमा करते हुए अगर उन्हे चन्द्र-सूर्य की उपमा दी तो उन्हे 'लोगपईदाण' भी कहा, अर्थात् दीपक के साथ भी भगवान् की तुलना की। इस से स्पष्ट है कि शास्त्रकारो के दिमाग कितने सुलझे हुए थे! वे हर पहलू को भली-भाँति देखते थे।

वास्तव मे दीपक मे जो उदारता है, वह चन्द्र-सूर्य में भी नही है। चन्द्रमा और सूर्य दूसरे चन्द्र-सूर्य को जन्म नही दे सकते परन्तु दीपक मे यह उदारता है, विशेषता है कि एक दीपक अनेक दीपको को उत्पन्न कर देता है। एक दीपक से आप चाहे तो असख्य दीप जला सकते है। एक छोटा-सा दीपक है, उसका छोटा-सा प्रकाश है और वह मकान मे थोडी सी जगह रोकता है, फिर भी उसकी महिमा देखो। वह जिस दीपक का स्पर्श कर लेता है, उसी को प्रकाशित कर देता है।

एक वात ध्यान मे रखना चाहिए कि दीपक उसी दीपक को प्रकाशित -प्रदीप कर सकता है जिसमे तेल और वत्ती हो। विना तेल-वत्ती का दीपक प्रकाशित नही हो सकता। जिस दीपक मे स्नेह्-तेल होता हे, वह दीपक के स्पर्श मात्र से प्रज्वलित हो उठता है।

सस्कृत भाषा मे स्नेह का अर्थ चिकनापन-तेल भी है और प्रेम भी है। तो जैसे नन्हा-सा दीपक स्नेह होने से दूसरे स्नेहसहित दीपको को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति के हृदय मे स्नेह-प्रेम हे, जो सभी को अपने भाई की दृष्टि से देखता हे, वह दूसरो को भी प्रकाशित कर देता है। जहाँ स्नेह नही वहा चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश भी असफल सिद्ध होते है।

किसी ने दीपक से पूछा—ऐ दीपक ! तुम बुझते क्यो जा रहे हो ? यद्यपि जड दीपक उत्तर नही दे सकता, मगर कवि भी वडे जवर्दस्त होते है। वे ऐसे पदार्थो से प्रश्न करके स्वय ही उनको ओर से उत्तर दिया करते है। तो दीपक प्रश्न का उत्तर देता है—ऐ प्रश्नकर्त्ता ! दुनिया मे यदि जिदा रहना है तो जिदा रहने के तरीके से ही जिदा रहना चाहिए। अगर जीवन मे जिदा रहने की चीज नही है तो जिंदा न रह कर मर जाना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। जब मुझ मे स्नेह (तेल) ही न रहा तो कैसे जिदा रहूँ ? ऐसे जीवन की क्या सार्थकता है ? कवि कहता है—

स्नेहहीन जग जीने से तो मरना भला कहाता,
अत स्नेह विन दीपक तू भी झटपट स्वर्ग सिधाता॥

कवि ने दीपक के जीवन की प्रशसा करते हुए कहा—ऐ दीपक ! वास्तव मे तुमने जीवन के उद्देश्य को भली-भाँति समझा है।

तो दीपक कहता है—जब मेरे जीवन मे से स्नेह (प्रेम-तेल) ही समाप्त हो गया तब स्नेहहीन हो कर जीने से भी क्या लाभ है ? ससार मे भारभूत होकर मैं जीवित नही रहना चाहता। यो ही कपडे फाडने और टट्टियाँ खराब करने की अब क्या आवश्यकता है ? जब तक जीवन मे स्नेह था, मैं बराबर प्रकाश दे रहा था। जब स्नेह समाप्त हो गया तो मुझे जीने का अधिकार नही है। ससार मे उन्ही को जीवित रहने का अधिकार है, जिनमे स्नेह है।

कौन-सा समाज, जाति, सघ और राष्ट्र जीवित रहता है ? जिसमे लबालब स्नेह भरा रहता है, जिसके हृदय पारस्परिक स्नेह से परिपूर्ण होते है। जिस जाति, समाज और देश मे से स्नेह खत्म हो जाता है, वह समाज और देश भी खत्म हो जाता है। वह मुर्दे के समान निस्तेज हो जाता है।

सज्जनो ! बुझता हुआ दीपक भले थोडी देर तक थोडा-थोडा प्रकाश करता नजर आता है, मगर आखिर मे वह बुझ जाने वाला है, इसी प्रकार कोई समाज, जाति, सघ या राष्ट्र थोडे-से स्नेह के कारण भले अपने को जीवित माने किन्तु अन्तत उसका अध पतन और विनाश अवश्यभावी है।

तो मैं कह रहा था कि एक छोटा-सा दीपक भी हजारो लाखो दीपको को प्रकाशित करता जाता है, किन्तु जब तक उसमे स्नेह है तभी तक यह समर्थ है। जिसके हृदय मे द्वेप-दावानल धधक रहा है, वह उसी को नष्ट कर देता है।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो विरोधी उसके ऊपर आते है, वह एक-एक को खत्म करता जाता है। इस प्रकार वह विरोधी तत्त्वो का डट कर मुकाबिला करना भी जानता है।

अतएव तीसरा पण्डित कहता है—राजन् ! इन विद्वानो को सूर्य और चन्द्रमा तो नजर आ गये किन्तु वह छोटा-सा प्रदीप नजर नही आया। दीपमालिका पर्व पर नवीन दीपक खरीद कर लाते है और उन्हे जलाते है और वे दीपक कण-कण को आलोकित कर देते है। वह दृश्य कितना नयनाभिराम, कितना सुहावना एव कितना मनोहर होता है ? एक कतार मे सब की समान ज्योति दर्शको के दिल को मोहित कर देती है और अमावस्या को भी पूर्णमासी मे परिणत कर देती है। अतएव मेरी सम्मति मे दीपक का प्रकाश सब प्रकाशो मे उत्तम है।

इस प्रकार तीन विद्वानो ने अपनी-अपनी मति के अनुसार तीन प्रकाशो को उत्तम सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

उसी दरबार मे एक बडा दार्शनिक और आध्यात्मिक भावो को समझने वाला पण्डित भी था। वह अभी तक मौन भाव से सब का कथन सुन रहा था। राजा ने उसकी ओर दृष्टि डाल कर कहा—पण्डित जी ! आप न्याय और धर्मशास्त्र के ज्ञाता है। सब ने अपना-अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया है, अब आप भी प्रकाश के सम्बन्ध मे अपनी सम्मति प्रकट कीजिए। हम आपका अभिप्राय भी सुनने के इच्छुक हैं।

इस प्रकार राजा के अनुरोध करने पर उस दार्शनिक पण्डित ने कहना आरम्भ किया—पूर्व वक्ताओ ने सूर्य, चन्द्र और दीपक के प्रकाश को उत्तम सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सूर्य का प्रकाश भी प्रकाश ही है। वह न हो तो दिन कभी हो ही नही। इसी प्रकार चन्द्रमा का प्रकाश भी अपने स्थान पर उत्तम है। दीपक के प्रकाश की उपयोगिता को भी अस्वीकार नही किया जा सकता। इनमे से

किसी भी प्रकाश की उपेक्षा नही की जा सकती। किन्तु इन सबको प्रकाशित करने वाला और विशेष मूर्त्त रूप देने वाला यदि कोई प्रकाश है तो वह इन दो आँखो के ताराओ का प्रकाश ही है। वह प्रकाश न आकाश मे रहता है और न घर मे ही रहता है। वह आँखो मे रहता है। यद्यपि वह अत्यन्त लघुकाय प्रतीत होता है, तथापि वही समस्त प्रकाशो का प्रकाशक और बोधक है। इन नन्ही-नन्ही आँखो मे जो छोटे-छोटे दो तारक है, उनमे से निकलने वाला प्रकाश सब प्रकाशो को जीवन देता है। यदि यह प्रकाश है तो सूर्य, चन्द्रमा और दीपको का अस्तित्व प्रतीत होता है और यदि यह प्रकाश गुल हो जाय तो हजार दिवाकर और निशाकर भी व्यर्थ हो जाते है। फिर ससार के सभी प्रकाश और प्रकाश्य पदार्थ अभेद्य अधकार मे विलुप्त हो जाते है। जिसके नेत्रो का प्रकाश समाप्त हो गया, उसके लिए समग्र विश्व मानो शून्य मे परिणत हो गया।

सूर्य चन्द्रमा और दीपक का मूल्याकन करने वाला कौन है ? आँखो का प्रकाश।

अभिप्राय यह है कि जैसे नेत्रो मे प्रकाश हो तो हमे चन्द्रमा, सूर्य और दीपक से भी प्रकाश मिल सकता है और वही न हुआ तो कही से नही मिल सकता, इसी प्रकार अगर हमारे जीवन मे विवेक है, समझ है, बोध है, आन्तरिक प्रकाश है तो हम प्रत्येक ग्रथ से, पुस्तक से या शास्त्र से प्रकाश प्राप्त कर सकते है। आपको जैन ग्रन्थो से भी और जैनेतर ग्रन्थो से भी प्रकाश मिल जायगा। फिर आप प्रकाश ही प्रकाश की दुनिया मे विचरण करेगे। और यदि वही आन्तरिक प्रकाश जीवन मे न होगा तो अन्यत्र कही भी प्रकाश न प्राप्त हो सकेगा।

तो उस दार्शनिक विद्वान् ने आँखो के तारको को समस्त प्रकाशो का केन्द्र बतलाया। किन्तु सज्जनो ! उस से भी बढ कर एव गहराई मे उतर कर देखे तो विदित होगा कि सर्वोत्कृष्ट प्रकाश आत्मिक प्रकाश है। नेत्रो के द्वारा प्रस्फुटित होने वाला प्रकाश वास्तव मे नेत्रो का नही, आत्मा का है और आत्मा के अनन्त प्रकाश की धूमिल रश्मि मात्र है। आत्मा का प्रकाश ही विभिन्न इन्द्रियो द्वारा विनिर्गत होता है। आत्मा मे प्रकाश है तो बाहर से भी प्रकाश मिल जायगा। अगर आत्मिक प्रकाश ही बुझ गया है तो कही से भी कुछ मिलने वाला नही है।

सज्जनो ! समय निकल जाता है और बात रह जाती है। यह काया-माया किसी के साथ जाने वाली नही है। इससे जो लाभ उठाया जा सके, उठा लेना चाहिए।

तो मै कह रहा था कि सद्भावप्रत्याख्यान करने से अनिवृत्ति भाव प्राप्त होता है। जो आत्मा अनिवृत्ति भाव प्राप्त करती है वह ससार-समुद्र से पार हो जाती है।

ब्यावर
१४—१०—५६

———

जीवन का आदर्श

उपस्थित महानुभावो !

अभी-अभी आप लोगो ने मगलाचरण रूप एक भजन सुना है और वह आवाज आपके कानो मे पड गई होगी। जिनकी श्रोत्रेन्द्रिय काम करती है, उन्होने उस भजन को सुन लिया है। किन्तु सुन लेना कोई बडी बात नही है, क्योकि शब्द के पुद्‌गलो को ग्रहण कर लेना कानो का स्वभाव ही है। महत्त्व की बात तो यह है कि सुने हुए शब्दो की ध्वनि हृदय तक पहुँचे। शब्द मनुष्य के हृदय मे उतर जाने चाहिएँ। इसी मे सुनने की सार्थकता है।

जो वाणी केवल कानो तक सीमित रह जाती है और अन्तस्थल तक नही पहुँचती, वह कितनी ही कल्याणमयी क्यो न हो, लाभदायक नही हो सकती। अतएव वाणी सुन कर उसे जीवन मे उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर कोई रोगी दवा की घूट मुँह मे ही रख ले और पेट मे न उतारे तो उसके शरीरगत रोगो का निवारण करने मे वह सफल कैसे हो सकती है?

सज्जनो ! हमारा कहना मात्र कहने के लिए और आपका सुनना मात्र सुनने के लिए नही है। उसे जीवन मे उतारना चाहिए, व्यवहार मे लाना चाहिए और उसके अनुकूल ही आचरण करना चाहिए। तभी वह श्रवण जीवन को ज्योतिर्मय बना सकता है, सस्कारित कर सकता है।

इस भजन मे यही बतलाया गया है कि मनुष्य भौतिक—पौदगलिक पदार्थो को प्राप्त करके अभिमान क्यो करता है? इन्हें

प्राप्त करने के लिए चोटी से एडी तक पसीना वहाना पडता है, सुख को तिलाजलि देकर रात-दिन पचना पडता है, न जाने कितने पापो का उपार्जन करना पडता है, पर नष्ट होने मे किंचित् भी देर नही लगती ।

आपका अनुभव साक्षी है कि इमारत वनाने मे वर्षो पूरे हो जाते है और हजारो- लाखो रुपये खर्च करने पडते है, आवश्यक सामग्री जुटानी पडती है, समय लगाना पडता है, मगर गिराने मे कितनी देर लगती है ? जितने वर्ष वनाने मे लगते है, उतने दिन भी उसे नष्ट करने मे नही लगते । आधुनिक साधन मिनटो मे उसका सफाया कर सकते है ।

किसी साहित्य का निर्माण करन मे लम्बा काल लगाना पडता है, परन्तु नष्ट करने मे, उसे मिटाने मे कुछ भी देर नही लगती ।

यही स्थिति समग्र पदार्थो की है । मनुष्य को पूर्वार्जित पुण्य के उदय से सब प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हो जाते है । जिसने पूर्व जन्म मे रहमदिली से काम लिया और परहेजगारी से जिन्दगी बसर की है वह हर एक बेशकीमती चीज हासिल कर लेता है । किन्तु बुद्धिमत्ता इस वात मे है कि वस्तुओ के मिल जाने पर उनका दुरु-पयोग न किया जाए । पुण्योदय से प्राप्त हुए धन का यदि जुआ खेलने, शराव पीने, मास-अडे खाने या वेश्यागमन आदि दुर्व्यसनो के पोपण मे व्यय करके दुरुपयोग किया गया तो मैं कहूँगा कि उस धन के मिलने मे न मिलना ही श्रेयस्कर था । अतएव प्राप्त धन का सदुपयोग करने मे ही मनुष्यत्व है ।

तुम्हे जो धन मिला है उससे अपना और अपने परिवार का पोषण करने के साथ जो दीन-दुखियो की भी सेवा करता है, और धर्म कार्य मे व्यय करता है, वही बुद्धिमान् है और वही विवेकशाली है। यो अपनी-अपनी जिन्दगी तो सभी पूरी कर जाते है। कहा है—

आत्मार्थमस्मिन् लोके, को न जीवति मानव ।
परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥

अपना जीवन सुख मे व्यतीत करने के लिए ऐसा कौन-सा इन्सान, हैवान या प्राणि है, जो कोशिश न करता हो ? छोटी-सी कीडी भी दिन भर इसी चक्कर मे घूमती रहती है। जगल मे जन्म लेने वाले मकौडे भी, जब घास के बीज उत्पन्न हो जाते है और पक जाते है तो अपने जत्थे बना कर जाते है और कई बार फिर-फिर कर उन दानो को ला कर बिल मे जमा करते है। वे भी सोचते है कि यही हमारी कमाई के दिन है और हमे इस अवसर का लाभ उठा ही लेना चाहिए, ताकि बाद मे हम बिल मे बैठे-बैठे आराम से खा सकेंगे।

इस प्रकार छोटे-छोटे जन्तु भी अपने लिए बिल बनाते है और अनाज भी इकट्ठा करते है। अगर मनुष्य मे भी इतनी ही चेतना है और वह भी यदि घर बनाने एव खाने-पीने की ही फिक्र मे रहता है और परमात्मा की भक्ति को जीवन मे स्थान नही देता तो आप ही सोचिए कि मनुष्य मे और कीडे-मकौडे मे क्या अन्तर रह जाता है ? हाँ, शरीर की आकृति मे अवश्य अन्तर है। मनुष्य का डीलडौल बडा और लम्बा-चौडा है और वे मनुष्य की उगली के एक पर्व से भी छोटे है।

सज्जनो ! क्या मानव जीवन की महत्ता इसी मे है। जब कीडो-मकौडो की वासनाएँ तुम्हारे जीवन मे भी काम कर रही हैं तो तुम्हारा वडप्पन क्या रहा ?

याद रक्खो, मनुष्य के जीवन का ध्येय इतना नीचा नही है। उसका आदर्श सिर्फ खाने, पीने या घर बनाने तक ही सीमित नहीं है। खाना है, पीना है किन्तु खा-पी कर इस जीवन से कुछ विशिष्ट अर्थ भी साधना है। जीवन की रक्षा मे ही समग्र जीवन को नही व्यतीत कर देना है।

भाइयो, दुनिया मे आकर मरना तो अवश्यभावी है। प्रकृति के इस अटल विधान को कोई टाल नही सकता। किन्तु कीटो की भाँति जीवन यापन करके—खा-पी कर—ही मनुष्य को नही मर जाना है। उर्दू का शायर कहता है—

हमेशा के लिए जिन्दा वही इस दारेफानी मे।
मेहर वनकर अजव चमके जो अपनी जिदगानी मे।

शायर कहता है—इस विनाशशील विश्व मे सदा के लिए वही जीवित रहता है जो अपने जीवन को चमका लेता है।

यह ससार परिवर्तनशील है। आज यहाँ ऊँचे-ऊँचे सुरम्य भवन दृष्टिगोचर हो रहे है, एक से एक उत्तम मनमोहक दृश्य दिखाई दे रहे है, विजली का अनूठा प्रकाश जगमगा रहा है, मोटरो और ट्रामो की ध्वनि कर्णगोचर हो रही है और सव प्रकार के जीवनोपयोगी साधन उपलब्ध है, वही कभी सुनसान अरण्य हो जाता है और किसी समय वीह जगल भी सुन्दर नगर के रूप मे

परिणत हो जाते है। पजाव प्रान्त मे चण्डीगढ जगल था। किन्तु वही अब पजाब की राजधानी बन रहा है और बहुत कुछ बन चुका है। उस जगल की हालत ही बदल गई।

तो ससार मे पल-पल पर परिवर्तन हो रहा है। जहाँ वस्ती होती है वहाँ उजाड हो जाता है और उजाड वस्ती बन जाता है। ससार कभी न एक सरीखा रहा और न रहने वाला है।

भगवान् फर्माते है—यह ससार एक अटवी के समान है और सदा एक समान रहने वाला नही है। ससार था और है और इसमे मखलूक थी और रहेगी, किन्तु तब्दीली होती रहेगी। परिवर्तन प्रकृति का अनिवार्य विधान है और कोई शक्ति उसे अवरुद्ध नही कर सकती। एक दशा कभी रहने वाली नही है।

कवि कहता है—चन्द्रमा रात्रि मे प्रकाश करता है, अन्धकार का निवारण करता है, फिर भी चोरो के लिए तो वह शत्रु के समान है। चोर सोचता है यह शत्रु कहाँ से पैदा हो गया! चोरो के लिए तो अमावस्या की रात्रि ही मित्र के समान है। उसी मे उनका उल्लू सीधा होता है। परन्तु चोर को चन्द्रमा अच्छा लगे या न लगे, वह तो यथासमय प्रकाश करेगा ही। उसके उदय से साधु पुरुष प्रसन्न और चोर अप्रसन्न होता है तो इसमे चन्द्रमा का क्या दोष है? किसी ने ठीक ही कहा है—

> जिदगी ऐसी बना, ज़िदा रहे दिल शाद तू।
> जब न हो दुनिया मे तो दुनिया को आए याद तू॥
> मुबारिक है जो दिल मे दूसरो का दर्द रखते है।
> आँखो मे आसू और लब पै आहे सर्द रखते है॥

शायर कहता है—कीडो-मकौडो की तरह जन्म लेकर मर

जाना ही जिदगी नही है। तू अगर मनुष्य जीवन मे आया है तो ऐसी जिदगी बना ले कि तेरा दिल शाद-खुश-रहे अर्थात् तेरी जिदगी मे कभी दिलगीरी, फिक्र, चिन्ता न हो। तू दुनिया मे जितने दिन भी जिदा रहे, खुश होकर ही जिदा रह । यदि रो-रो कर, झूर-झूर कर हाड सुखा लिए तो वह जिदगी मे जिदगी नही है।

किन्तु तेरा दिल कब शाद होगा ? जब इस जिदगी मे तू खुशी के काम करेगा अर्थात् किसी का भला करेगा। जिसका भला करेगा उसका दिल तो शाद होगा ही किन्तु तेरा दिल भी शाद होगा। तुझे आन्तरिक तोप प्राप्त होगा । जब रहम (दया) की लहर हृदय मे उठती है तो आत्मा मारे खुशी के प्रसन्न हो जाती है। प्रत्येक अच्छे और बुरे काम का असर पहले इस आत्मा पर ही पडता है। जब कोई दूसरो को दु ख देने की दुर्भावना करता है तो वह अपनी दुर्भावना से पहले स्वय दुखी होता है।

दियासलाई जब दूसरो को फूकने जाती है तो पहले स्वय फुक जाती है। दूसरे की झौपडी तक पहुँच सकेगी या नही, किन्तु ऐ दियासलाई ! पहले तो तू ही नष्ट हो जाएगी।

तो ऐ मनुष्य ! यदि तू दुनिया मे रहता है तो इस तरह रह कि तुझे देख कर लोग खुश हो और उनकी खुशी है तो पहले तू खुश है। तेरे जीवन से दुखियो को राहत मिले और जब तू इस दुनिया मे न रहे तो सारी दुनिया तुझे याद करे।

दरवेश-ओलिया-फकीर, राजा-महाराजा सब को ही इस दुनिया से एक दिन कूच कर जाना है । दुनिया के इस बगीचे मे कोई फूल ऐसा नही जो खिल कर मुरझाता न हो । अतएव दुनिया

मे तेरा आना तभी सार्थक है जब कि सुगध लेकर तो आ और दूसरो को सुगध देकर जा। तू फूल बन कर ही आ और शूल मत बन। इस दुनिया मे फूल वालो के लिए फूल भी है और शूल वालो के लिए शूल भी मौजूद है।

इस दुनिया मे सज्जन पुरुष फूल के सदृश है और पापी, जुल्मी, बेकसो पर छुरी चलाने वाले, खून बहाने वाले शूल की तरह है। याद रखना, जो शूल दूसरे के पॉव मे चुभ कर उसे दु ख देना चाहता है, वह पहले अपना ही अस्तित्व नष्ट करता है, अर्थात् पैर मे चुभते ही टूट जाता है। कहा भी है—

दूसरो को दु ख देकर सुख पाते नही।
पाव मे चुभते ही काटा टूट जाता है वही।

जो दूसरो को दु ख देते है, कॉटे बन कर चुभते है, दूसरो का छेदन-भेदन करते हैं, वे जीवन मे कभी सुख नही पाते। जैसे पैर मे चुभते ही काँटा टूट जाता है, उसी प्रकार वे भी खत्म हो जाते है।

वह व्यक्ति तो उस कॉटे को दूसरे कॉटे से निकाल कर फेंक देगा और जख्म दो-चार दिन मे भर जायेगा किन्तु ऐ दु ख देने वाले कॉटे! मगर तुझे जो हानि उठानी पडी है वह सारी जिदगी पूरी होने वाली नही है। तेरा जो सिर धड से अलग हो चुका है, वह अब पुन मिलने वाला नही है।

इसलिए सज्जनो! यदि तुम दुनिया मे आए हो तो किसी का भला करो, दु ख दूर करो। इसीलिए कवि ने कहा है कि जब तू इस दुनिया मे न रहे तब भी तुझे दुनिया याद करे, ऐसा काम तू कर। लोग कहे—अहा, वह कितना अच्छा आदमी था। दीन-दुखियो का तो माई-बाप ही था।

इस दुनिया से नेकी-वदी ही इन्सान के साथ जाने वाली है। किन्तु जिसकी दृष्टि अच्छी है उसे सारा ससार ही मित्र के समान दिखाई देता है । 'यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टि ।' अर्थात् जैसी जिसकी दृष्टि होती है, उसे वैसी ही सृष्टि नजर आती है। कहा है—

जमाना हो गया अकबर तेरी सीधी निगाहो मे।
अगर तिर्छी नजर होती तो न जाने क्या होता।

अकवर उर्दू का बडा शायर हो गया है । वह कहता है— तेरी सीधी नजर मे ही सारा जमाना गुजर गया, किन्तु यदि तिर्छी नजर हो जाती तो न जाने क्या प्रलय मच जाता । किन्तु आज की दुनिया बडी विचित्र है। कैसे ?

जिसके साथ मे नाता था उसको तो भुला वैठे।

और गैरो से नाता लगा वैठे।

आज जो लोग गँठकतरे है, धोखा देने वाले है, उनसे तो लोग प्रीति करते है और जो समय पर पल्ले मे माल बाँधने वाले है, उनसे प्रेम करना ही छोड वैठे है।

अरे भले मानुस ! तुझे याद है कि तू ने गर्भ काल मे परमात्मा से क्या वायदा किया था ? तू ने वायदा किया था कि जव मै इस काल कोठरी से वाहर निकलूँगा तो जरूर तेरी वदगी करूँगा और मखलूक की खिदमत करूँगा । किन्तु अरे नुगरे ! बाहर आते ही सब भूल गया ! तू वचपन मे तो खेलकूद मे लगा रहा और जवानी मे विपयभोगो मे वेईमान होकर फँसा रहा और कमाई से ही फुर्सत न पा सका। वुढापा आया तो नाना प्रकार की

व्याधियो मे ग्रस्त हो गया। इस प्रकार ईमानदार से बेईमान बन कर इस ससार से कूच कर गया। तू ने इस नाशशील दुनिया के जाल मे फँस कर परमात्मा को भुला दिया। जब तू परमात्मा से वायदा करके नट सकता है तो दूसरो के साथ किये हुए वायदे को निभाएगा, यह कैसे विश्वास किया जा सकता है ? किन्तु याद रखना—

कहते है करते नही, मुँह के बडे लवार।
काला मुँह उनका होयगा, साई के दरबार।

तुझे जिसको हरदम याद रखना था उसे भुला बैठा और गैरो से मुहब्बत करने लगा। यह तेरी कितनी भारी भूल है ? शायर जौक कहते है—

ऐ जौक दुनिया मे रहिए उलफत को तोड दे।
जिस सिर का है यह बाल उसी सिर मे जोड दे।

शायर ने बडी ऊँची उडान ली है। उसने शायरी मे कमाल कर दिया है। शायर ने इस पापभरी दुनिया का नग्न चित्र खीच कर सामने रख दिया है। वह स्वय अपने से बात कर रहा है और कहता है—ऐ जौक ! तू इन माता-पिता-स्त्री-पुत्र आदि परीवार के लिए दूसरो का गला काट कर खून चूस कर, दगा करके, ४२० करके धन कमाता है, किन्तु इनमे से कोई भी तेरा साथ देने वाले नही है। उस पापकर्म के फल भोग मे हिस्सा बटाने वाले नही है। तू जिनके लिए दौडधूप कर रहा है, वे केवल खाने वाले है, नफे के जिम्मेवार है, टोटे के नही। जब तक तू इन्हे ला-ला कर खिलाएगा-पिलाएगा, तब तक ये भाई जी, मामा जी, फूफा जी कहेगे और जब तुझसे कोई स्वार्थ सिद्ध नही होगा तब तुझे उसी

प्रकार हटा देगे जैसे घी मे से मक्खी को निकाल कर फेंक दिया जाता है। अतएव नातेदारी की इस उल्फत को तोड दे और यह जिस सिर का बाल है उसके साथ ही जोड दे।

आप जानते ही होगे कि बच्चे को भी बाल कहते है और केश को भी बाल ही कहते है। इन बालो को मस्तक ने जन्म दिया है तो जब तक ये मस्तक से सबधित रहते है, लोग इन्हे दही या साबुन से धोते है और साफ-सुथरा रखते है। तेल लगाकर उन्हे मुलायम रखते है और कघी फेरते है।

सज्जनो! पहले तो इन बहिनो को ही कघी की फिक्र रहती थी, किन्तु आजकल के बाबुओ को जेब मे सदैव कघा तैयार रहता है। मगर ऐसे लोग न हिन्दुस्तान मे हे और न पाकिस्तान मे ही है, अर्थात् न पुरुषो मे और न स्त्रियो मे ही है। जरा-सा इधर-उधर होते ही उनके बाल बिखर जाते है, और उसे ये सहन नही कर सकते। अतएव कघा जेब मे ही लिए-लिए घूमना पड़ता है।

मगर इन बालो की सार-सम्भाल और कद्र कब तक है? जब तक ये किसी हजाम की कैंची के शिकार नही बने है और मस्तक के साथ जुडे हुए है। जब हजाम उन्हे मस्तक से अलग कर देता है और काट कर फेंक देता है, तो कौन उनकी ओर दृष्टि भी डालना पसन्द करता है?

आज तो हजामो की कमी नही है। घर-घर मे हजाम हो रहे है। पहले शाप दिया जाता था कि—'झोली लेकर फिरेगा।' परन्तु आज तो हरेक के हाथ मे झोली हो गई है।

तो जब तक बाल सिर पर रहते है, उनकी सार-संभाल की जाती है, किन्तु जब सिर पर से अलग हो जाते है तो उन्हे गटर मे

डाल दिया जाता है। भगिन भी पहले डलिया-टोकरी मे वाल डालती है और फिर उनके ऊपर मैल डालती है।

हाँ, तो ये सिर के वाल है—वच्चे है। जव तक ये सिर के साथ रहते है, इन्हे खूराक मिलती है और जव ये वडे हो जाते है और वडे हो जाने पर भी तव तक फलते-फूलते हे जव तक मस्तक पर वने रहते है। जव पृथक् हो जाते हे तो उनका वढना वन्द हो जाता है, विकास रुक जाता है और गटर-की मोरी की शोभा वढाते है।

मै पूछता हूँ आप कौन है ?

(एक वृद्ध—मनुष्य !)

मै भी तुम्हे हाथी-घोडा नही समझता हूँ। तुम्हारे मनुष्यभावी आँख, कान, नाक आदि हे, अतएव तुम्हे घवराने को आवश्यकता नही है। तो आप वूढ्ढे भी हो गए और आपके सफेद भी आ गए, फिर भी ज्ञानियो की दृष्टि मे आप भी वाल अर्थात् वच्चे ही हो।

याद रक्खो, तुम्हारा पिता अमर है। वह न मरा और न मरेगा। जिसका पिता जिन्दा है वह वाल ही है, भले ही उसकी उम्र कितनी ही क्यो न हो ?

आप मे से कई कह सकते है—हम तो अपने पिता को कभी का फूक चुके है। किन्तु जो पिता फूंक दिया जाता है वह तो अल्पकालिक—टैम्परेरी—आरज़ी है। असली पिता जगत्पिता है और वह अमर है। वह न केवल हिन्दुओ और न केवल मुसलमानो का, किन्तु समग्र जगत् का पिता है। उसकी दृष्टि मे प्राणि-मात्र समान है। वह समदृष्टि है, अतएव उसके सामने सव वच्चे है—कीडो से लेकर हाथी तक।

इसलिए भद्र पुरुषो ! शायर कहता है कि जब तक बाल सिर पर रहते है तब तक उनका सरक्षण होता है और जब मालिक से जुदा हो जाते है तो उनकी दुर्दशा ही होती है।

हम सब बाल रूप है और परमात्मा उन बालो का पिता रूप है। अतएव हमारी प्रतिष्ठा, आन, शान और सुख इसी मे निहित है कि हम जिसके है, उसी के बने रहे। किन्तु आज तो मामला ही कुछ और हो गया है। कहा है—लाहौर से मुहब्बत पासोर जाते है। लाहौर शहर है और पेशावर भी शहर है। तो मुहब्बत किससे कि लाहौर से और जाते कहाँ हो कि पेशावर ! मतलब यह हुआ कि मुहब्बत तो किसी और से जोडते हो और पास किसी दूसरे के जाते हो। इस प्रकार जब ४२० करते हो तो बात कैसे बन सकती है ?

तुम प्रीति करते हो स्त्री से, पुत्र से, धन से और बगलो से, मगर जाना चाहते हो भगवान् के पास। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? जिससे प्रीति लगा ली जाती है, उसी के पास जाना होता है। दूसरा अपने पास क्यो फटकने देगा ?

तो जिसके पास जाना है, उसी का ध्यान लगाना पडेगा। इधर-उधर भटकने से और दूसरो के साथ प्रीति जोडने से काम बनने वाला नही है।

शायर जोक यही कहता है। उसका कहना है कि जिसके साथ तेरा असली रिश्ता है, उसी से रिश्ता जोड और दूसरो से झूठा नाता तोड दे।

तू चेतन है अतएव तेरा रिश्ता चेतन के साथ है न कि जड के साथ। तू भी चेतन है और परमात्मा भी चेतन है। अन्तर है तो

यही कि परमात्मा निर्विकार, निष्कलक चेतन है और तू विकारग्रस्त है। परमात्मा पर कोई पर्दा नही रहा है और तेरी आत्मा पर पर्दा पडा हुआ हे। कर्मो का वह पर्दा परमात्मा के ध्यान से और उसके वताए हुए सत्पथ पर चलने से हट जाएगा तो तू स्वय परमात्मा वन जाएगा। फिर तुझ मे और उस मे कुछ भी अन्तर नही रह जाएगा।

कहा है—

> वन्दा नही तू सचमुच खुदा है,
> वस एक नुक्ते से हुआ जुदा है।
> वह नुक्ता खुदाई जुदाई का वापस,
> गर मिटा दे खुदाई फिर खुद ही खुदा है।

तुझ मे और खुदा मे केवल एक नुक्ते का ही फर्क है। यदि उस नुक्ते को ऊपर लगा दे तो तू ही खुदा वन जाए। उर्दू के खे और जीम अक्षर एक से हैं। दोनो मे कोई अन्तर नही। ऊपर नुक्ता लगाने से खे और नीचे लगाने मे जीम वन जाता है। खे अक्षर से खुदा वना है।

तो परिश्रम करके उस खुदा को प्राप्त कर सकते हो। यह अनमोल जीवन वार-वार मिलने वाला नही हे, अतएव नजर को तिर्छी मत करो किन्तु सीधी नजर रख कर चलो। दुनिया की सेवा करके मरोगे तो दुनिया तुम्हे याद करेगी।

इस पृथ्वीतल पर उनका जीवन वन्य है जो दीन-दुखियो का दर्द दिल मे छिपाए रखते है और दुखियो को देख कर आँखो मे आँसू लाते हैं और दिल मे ठडी आहे लेते हैं कि हे भगवन्! इन गरीबो को कैसे राहत मिले? इस प्रकार की करुणा जिनके दिलो मे होती है, उनका इस दुनिया मे आना भी सार्थक है। अतएव अपनी

दृष्टि हमेशा सीधी रखनी चाहिए, शुद्ध बनाना चाहिए । मगर दृष्टि को शुद्ध रखना भी प्रत्येक के वश की वात नही है। बाजार के रग देखते हो तो विचलित हो जाते हो। किन्तु जैसी दृष्टि होगी वैसा ही ससार नजर आएगा।

एक समय की वात है। महाराज श्रीकृष्ण का दरबार लगा हुआ था अनेक प्रकार के राजकीय फैसले हो रहे थे। उसी समय कृष्ण महाराज ने लोगो के सामने एक प्रश्न रख दिया। उन्होने कहा—सभासदो ! ससार मे भले आदमी अधिक है या बुरे आदमी ?

उस सभा मे दो वडे प्रतिष्ठित और जबर्दस्त व्यक्ति भी उपस्थित थे। एक और युधिष्ठिर थे तो दूसरी ओर दुर्योधन। श्रीकृष्ण का प्रश्न सुन कर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—महाराज, इसका क्या पूछना है ? ससार भले आदमियो से व्याप्त है। भले आदमी अधिक न होते तो ससार नरक न वन जाता ?

तुरन्त दुर्योधन ने खडे होकर कहा—महाराज, यह समाधान मुझे सही नही मालूम होता। यह ससार तो खोटे आदमियो से भरा पडा है। यहाँ सब भेडिये रहते है और भले आदमी क्वचित् कदाचित् ही नजर आते है।

सज्जनो ! जो ससार युधिष्ठिर की दृष्टि मे सुन्दर स्वर्ग के समान दृष्टिगोचर होता है, वही दुर्योधन को दोजख—नरक के समान दिखाई दे रहा है।

दोनो ही पहलवान थे और राजसभा मे बैठे हुए व्यक्तियो मे जिसकी जैसी दृष्टि थी, वे उस-उस के पक्ष मे हो गए। जोरदार सघर्ष उत्पन्न हो गया। जैसे आजकल रशिया और अमेरिका के दो

पक्ष है और अधिकाश देश उनमे से किसी एक के पिछलग्गू है, उसी प्रकार उस दरबार मे भी राजा लोग इन दोनो के पक्ष मे हो गए। कोई युधिष्ठिर का तो कोई दुर्योधन का समर्थन करने लगे। किन्तु कृष्ण महाराज वडे ही चतुर राजनीतिज्ञ थे। उन्होने सोचा—बातो ही बातो मे सघर्ष उग्र रूप धारण कर लेगा। अतएव इसे यही समाप्त कर देना चाहिए।

अन्त मे श्रीकृष्ण बोले—अच्छा, यह प्रश्न अभी यही समाप्त कर दिया जाय। इसका निर्णय समय पर फिर कभी किया जायगा।

सभा विसर्जित हो गई और सब अपने-अपने काम मे लग गये। कुछ समय बीता तो लोग उस प्रश्न को ही भूल गये।

जिम्मेदार और सज्जन पुरुष अपनी जिम्मेवारी को नही भूलते, मगर दुरगी नीति वाले कहते है—भूल गये! ऐसे लोग भी मतलब की बात नही भूलते और कदाचित् कब्र मे से भी खोद कर निकाल लेते है। मतलब न हो तो कह देते है—'महाराज, भूल गया।' भूलेगा क्यो नही, वहाँ तेरा पानी जो मरता था।

मगर कृष्ण महाराज नही भूले। एक दिन उन्होने फिर बात छेड दी। कहा—सभासदो! कुछ समय पूर्व मैने आप लोगो मे एक प्रश्न किया था। वह सब को याद ही होगा।

यह सुन कर लोग एक दूसरे की बगले झाकने लगे। कोई नही बता सका कि क्या प्रश्न किया था।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, लोग मतलब की बात ही याद रखते है। कहा है—

भूल गये राग-रग, भूल गये छकडी।
तीन बात याद रही, लूण तेल लकडी।

हाँ, तो सब ने कहा—महाराज हमे तो आपका प्रश्न याद नही रहा। कृपा करके पुन फर्माइए कि आपने क्या प्रश्न किया था ?

कृष्ण जी बोले—सभासदो, आश्चर्य है कि आप लोग इतनी जल्दी प्रश्न को भूल गये। अस्तु मै उसे दुहरा देता हूँ।

यह कह कर कृष्ण जी ने कहा—मै ने उस दिन आपसे पूछा था कि ससार मे भले आदमी ज्यादा है या बुरे आदमी ?

तब सब ने कहा—हाँ महाराज प्रश्न तो आपने यही किया था।

इतने मे ही दोनो पहलवान—युधिष्ठिर और दुर्योधन फिर मैदान मे उतर आये। युधिष्ठिर बोले—सारा ससार ही भला है महाराज।

दुर्योधन ने फिर वही कहा—इस ससार मे तो भेडिये और मगर-मच्छ ही अधिक भरे पडे है। यहाँ भले आदमी है ही कहाँ ?

तब कृष्ण महाराज ने कहा—आप दोनो प्रमाण सहित उत्तर दे और यहाँ के नागरिको की एक-एक सूची तैयार कर लावे कि आपकी दृष्टि मे कौन भला और कौन बुरा है ?

दोनो अपनी-अपनी डायरी लेकर नामावली तैयार करने के लिए नगर मे गये। युधिष्ठिर जिस व्यक्ति के पास जाते है, उन्हे सब अच्छे ही अच्छे नजर आते है। किसी मे दया का गुण है तो कोई परोपकारी है। किसी मे नम्रता है तो किसी मे क्षमा गुण की प्रधानता है। कोई परमात्मा का भक्त है तो कोई दीन-दुखियो का सहारा है। कोई ज्ञानानन्दी है तो कोई भजनानन्दी है।

इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर को सब अच्छे ही नज़र आये। वास्तव मे उनकी आँखो का कैमरा अच्छी-अच्छी बातो को ही 'केच'

करता था। बुराई को पकडने की शक्ति ही उसमे नही थी। यद्यपि गुणियो मे अवगुण भी थे किन्तु अवगुण देखने वालो के लिए अवगुण थे। गुणग्राहो के लिए गुण ही गुण थे।

आखिर जब उन्हे कोई अवगुणी नजर न आया और फिरते-फिरते हैरान हो गये तो अपना वहीखाता कोरा का कोरा लेकर राजदरबार मे आ गये।

उधर दुर्योधन भी नगर मे गया तो उसे कोई रिश्वत लेने वाला, कोई चोर बाजारी करने वाला, कोई मुहजोर, कोई सीना-जोर, कोई चोर, व्यभिचारी, जुआरी, नास्तिक ही नजर आया। उसकी दृष्टि मे किसी मे कोई गुण ही नहीं था। उसे सब भेडिया ही भेडिया दिखाई दिये। अतएव वह भी अपना खाता कोरा का कोरा ही ले कर आ गया।

जब कृष्ण महाराज ने दोनो की डायरियाँ कोरी देखी तो कहा—तुम यो ही आ गये। अच्छी तरह अन्वेषण नही की ?

दोनो ने कहा—महाराज, हम घूमे, खूब घूमे और घूमते-घूमते थक गये।

तब दुर्योधन की ओर देख कर कृष्ण जी ने पूछा—तो तुम्हारा वहीखाता कोरा क्यो है ? क्या एक भी अच्छा आदमी नजर नही आया ?

दुर्योधन—महाराज, जब सारा ससार ही पापी है तब अच्छा आदमी कैसे मिल सकता है ?

युधिष्ठिर ने पूछा तो उन्होने भी यही उत्तर दिया। वह बोले—ससार मे कोई बुरा आदमी होता तो ही उसका नाम लिख कर ला सकता था। मगर ऐसा कोई मिला ही नही।

दोनो की वात सुन कर कृष्ण महाराज ने बडा ही सुन्दर निर्णय दिया। वह बोले तुम दोनो के परीक्षण से सिद्ध हुआ है कि यह ससार एकान्तत अच्छा भी नही है और बुरा भी नही है। जो अधर्मी और नरकगामी है, उनके लिए सभी मनुष्य यमदूतो के समान है और जो धर्मी है, स्वर्गगामी है और मोक्ष के अधिकारी है, उन्हे सव अच्छे ही अच्छे नजर आते है।

दो मित्र वगीचे मे गये। उनमे से एक की दृष्टि विकसित और सुगधित पुष्पो की तरफ गई और वह उनकी सुगन्ध ग्रहण करके दिमाग को ताजा करने लगा। दूसरे की नजर गुलाव के काँटो पर पडी। इस प्रकार फूल वाले को फूल और शूल वाले को शूल ही प्राप्त हो गये।

किसी चेले ने गुरु से पूछा—यह ससार कैसा है? तव गुरु ने कहा—शिष्य! अपने दिल से ही पूछ ले कि तू कैसा है? तू जैसा होगा तेरी दृष्टि जैसी होगी, वैसा ही तुझे ससार दिखाई देगा। अगर तेरे दिल का शीशा स्वच्छ है तो सारा ससार स्वच्छ, गुणमय और भला दीखेगा और यदि धुधला है तो मलीन, पापी और भेडिये के समान दीख पडेगा। अतएव दुर्लभ मानवभव पाकर अपने हृदय को शुद्ध वनाओ। ससार के पदार्थ साथ देने वाले नही। धर्म ही साथ जाने वाला है। ऐसा समझ कर जो इस जीवन मे परोपकार करते है, धर्म करते है, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

व्यावर
१५—१०—५६

राग-त्याग

उपस्थित सज्जनो !

शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—पूज्य गुरुदेव ! जो तीन दोष अत्यन्त भयकर है, आत्मिक गुणो का विनाश करने वाले है, उन्हे पनपने नही देते विकसित नही होने देते, जिनकी विद्यमानता मे अनेक प्रकार के तप जप, सयम, अनुष्ठान और क्रियाएँ करने पर भी आत्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त नही कर पाता और जो आत्मिक-कल्याण के मार्ग मे चट्टान की तरह अड कर बाधक बने हुए है, उन तीन दोषो को जो निकाल देता है, उसे क्या लाभ होता है ? शास्त्रीय भाषा मे प्रश्न यह है—

'पिज्जदोसमिच्छादसणविजएण भते ! जीवे कि जणयइ ?'

जो जीव राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन को जीत लेता है, उन पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसे क्या लाभ होता है ?

सज्जनो ! इन दोषो को दूर कर देना कोई हँसी खेल नही है । यद्यपि प्रश्न थोडे शब्दो मे किया गया है और उत्तर भी थोडे शब्दो मे ही दे दिया गया है, तथापि उन शब्दो मे महान् अर्थ निहित है ।

इन तीन दोषो का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनन्त-अनन्त काल से चला आ रहा है । इन्ही दोषो के कारण जीव कर्मो का बधक बनता है । इनकी बदौलत ही ससारी जीव विकास की जगह ह्रास और उत्थान की जगह पतन की प्राप्ति कर रहा है । इन तीन दोषो

मे पहले राग की गिनती की गई है, अतएव सर्वप्रथम इसी के सम्बन्ध मे कुछ विवेचन करना उचित होगा।

राग आत्मा का अत्यन्त प्रबल और भयानक शत्रु है। द्वेष की अपेक्षा भी राग के कारण कर्मो का अधिक बधन होता है। राग को जीतना बडी टेढी खीर है। राग के प्रभाव से मनुष्य बेमान हो जाता है। जिसका अन्त करण राग से अभिभूत है, उसकी दृष्टि सम नही रहती, विषम हो जाती है। जिसकी आत्मा मे जितना अधिक राग होगा,उसकी दृष्टि मे विकार भी उतना ही अधिक होगा। रागी की दृष्टि मे कोई सिद्धान्त नही होता। शास्त्रकार कहते है—जिस वस्तु से उसका कार्य सिद्ध होता है, मतलब निकलता है और स्वार्थ पूरा होता है, वह वस्तु भले खराब से खराब हो, किन्तु रागभाव के कारण उसे वह दृढता पूर्वक अच्छी ही मानता है।

मदिरापान करने वाले को देख कर दुनिया जानती है कि मदिरा बहुत बुरी चीज है। मदिरा के दोष प्रत्यक्ष दिखाई देते है। शराब के नशे मे शराबी नालियो मे पडता है। उसके पैरो मे ताकत नही रहती। वह गालियाँ बकता है। पत्नी को माँ और माँ को पत्नी कहता है और नशे मे अपने आप को बेताज का बादशाह मानता है। फिर भी दारू पीने वाले पर दारू का प्रभाव इतना अधिक हो गया है कि उसके लिए तो वही स्वर्गीय सुख देने वाली है, अगर उसकी जेब मे दाम है और वह हलवाई की दुकान के पास से भी गुज़र रहा है, तो बढिया, पौष्टिक और दिल-दिमाग को तरावट देने वाली मिठाइयो को नही खायगा, वह सीधा दारू की दुकान पर जाएगा और दारू पीकर ही अपनी जेब खाली करेगा। इसका कारण यही है कि उसकी भावना मदिरा के प्रति रागमय बन

गई है। अतएव वह बुरी और हानिकारक वस्तु को भी अच्छी समझता है।

इसी प्रकार चोर जानता है कि चोरी करनी बुरी है, क्योंकि चोर पकड़े जाते हे, डडे खाते हे, कारागार मे सडते हे और दुनिया मे वदनाम होते हे। लोग उनका विश्वास नही करते, वल्कि घृणा करते है। परलोक मे भी उसकी गति विगडती हे। समाज मे अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि होती है। इतनी सव बुराइयाँ होने पर भी जिसे चोरी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है, वह तो यही सोचता हे कि सीधा माल हाथ लगता हे तो कौन परिश्रम करे ? कौन पसीना वहाए।

चोर को चोरी के माल से भले ही खान पान आदि आंशिक सुख मिलता हो तो भी उसे जगलो मे मारा-मारा फिरना पडता है। कही विश्राम भी ले रहे होते है तो पत्तो की जरा-सी खडखडाहट होते ही उनका कलेजा कापने लगता है कि कही पुलिस या फौज तो नही आ गई है! इस प्रकार चोरो का खाना-पीना और नीद लेना भी हराम हो जाता है।

सज्जनो ! निषिद्ध काम जो करते हैं, उनकी आत्मा व्याकुल हो जाती है। दुर्व्यसनी दुर्व्यसन के वशीभूत होकर दुष्कृत्य का सेवन करता है और अन्तम मे उसकी वुराई को समझता है, किन्तु रागभाव की तीव्रता के कारण वह वच नही पाता और उनका आचरण करता है।

पजाव के एक सगरूर शहर के वाजार मे ही पुलिस का थाना है और उसके पास ही उपाश्रय (स्थानक) है। जव पुलिस वाले यमदूतो की तरह चोरो को पकड कर लाते हें, चोरी

कबूल कराने के लिए बेरहमी से पीटते है और चोर चिल्लाते है तो सुनने वालो का दिल दहल जाता है। मै जब वहाँ गया तो जिन मुनियो ने वहाँ चातुर्मास किया था, वे कहने लगे—क्या पूछो महाराज ! चोरो की चिल्लाहट से नीद लेना भी हराम हो जाता है।

कारावास की कठोर यातनाएँ भोगने पर भी चोर जब छूटता है, तब भी चोरी करने से बाज नही आता। क्योकि उससे उसका राग हो गया है।

इसी प्रकार मास खाने वालो को और कसाइयो को अच्छी तरह मालूम है कि सूई चुभने पर या काँटा लगने पर कितना कष्ट होता है। फिर भी वे दूसरो के गले पर छूरी चलाते है। उन प्राणियो को कितनी व्यथा होती होगी ?

हम प्रात काल यहाँ शौचार्थ जगल मे गये तो रास्ते मे एक सिख काटने के लिए बकरे ले जा रहा था। उन बकरो का कितना दर्दनाक दृश्य होता है ! बेचारे बे-बे करते है,इधर-उधर भाग जाने के लिए कूदते -फादते हैं, मगर जब उनके गलो पर छुरी फेर दी जाती है तो किस बुरी तरह तडप-तडप कर प्राण देते है ! किस तरह उनके सामने मौत का भयावना चित्र आने लगता है ! फिर भी कसाई उन्हे गाजर-मूली की तरह काट डालते है और फिर खाने वाले उन्हे अपने पेट रूपी कब्रिस्तान मे डाल लेते है !

इतना करुणाजनक दृश्य और दिल दहलाने वाला नजारा उन कसाइयो और मासभक्षको के सामने होने पर भी उनका दिल क्यो नही पसीजता ? उनका हृदय पत्थर की तरह कठोर कैसे बन गया ? इसका एक मात्र कारण यही है कि मासभक्षियो के चित्त

मे मास के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है और कसाइयो को पैसे मे प्रीति है। इसी कारण वे क्रूर लोग दूसरे के प्राणो को प्राण ही नही समझते। शास्त्रकार फर्माते है कि मनुष्य छ कारणो मे जीवो की हिंसा करता है —

'इमस्स चेव जीवियस्स परिवदण-माणण-पूयणाए,
जाइ-मरणमोयणाए, दुक्खपडिग्घायहेउ ।'

—आचारांग, अ० १, उ० १

इस नाशवान जीवन के लिए रागी पुरुष दूसरो की जिंदगी से होली खेलते है—उसे नष्ट कर देते है। कई सोचते है—लोग मेरी बहादुरी की प्रशंसा करेंगे—वन्दना करेगे और कहेगे कि—अहा! यह कितना बहादुर है जो एक ही तीर से हिरण या खरगोश को बीध सकता है! एक ही झटके से पाडे का सिर धड से जुदा कर सकता है।

कहते है—'चिडियो की जान जाती है और गैलारो (राहगीरो) की हँसी होती है।' किन्तु याद रखना चाहिए, इस हँसी की कीमत चुकाना बहुत भारी पडेगा। रो-रो कर बदला चुकाना होगा और वह अत्यन्त भयानक होगा। बदले के वार कभी खाली जाने वाले नही। शास्त्र स्पष्ट घोषणा करते है :—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

अर्थात् जो कार्य किये है उनका फल दो दिन आगे या पीछे भोगना ही पडेगा। उनका फल भोगे बिना छुटकारा मिलने वाला नही है।

भगवान् महावीर फर्माते है—पाप छिपे रहने वाले नही है। लोग समझते हैं—हम मिट्टी डाल देंगे, छिपा देंगे, किन्तु उन्हे छिपाने

की लाख चेष्टाएँ भी सफल नही हो सकती। किये पाप सिर पर चढ कर बोलते है।

इसी प्रकार जुआरी समझता है कि मै सरकार के कानून के विरुद्ध जुआ खेलता हूँ। सरकार मुझे पकड लेगी और सजा देगी। इसी कारण वह एकान्त मे जाकर छिप कर जुआ खेलता है। मगर उसे याद रखना चाहिए—कदाचित् सरकार न भी पकड़ सकी तो भी तू अपने काले कारनामो से अपना घर बरबाद कर देगा।

इन्सान की अन्तरात्मा अच्छाई-बुराई को भली-भाँति समझती है। प्रत्येक आत्मा मे इतना विवेक विद्यमान रहता ही है। किन्तु जब कोई भी व्यसन उस पर बुरी तरह छा जाता है और उसकी अन्तरात्मा उसमे अनुरक्त हो जाती है तो उसे छोड नही सकता। नुकसान उठा कर भी वह उसका सेवन करता है।

कितने ही ऋषि-मुनि और ज्ञानी समझते है कि अमुक आदत अच्छी नही है, फिर भी तीव्र रागभाव के कारण वे उससे अपना पिण्ड नही छुडा पाते। मरते दम तक भी उस व्यसन को नही छोडते। हाँ, यह बात अवश्य है कि जब उन दुर्व्यसनो की तरफ से उनके हृदय मे विरक्ति उत्पन्न होगी और आत्मा का उज्ज्वल भाव प्रबल होकर जागृत होगा तो किसी को दो शब्द कहने की भी आवश्यकता न होगी और वे स्वय ही उससे घृणा करके छोड देगे। उन की उच्च शक्ति ही गुरु बन कर उनका पथ-प्रदर्शन करेगी और उन्हे बल प्रदान करेगी। किन्तु जब तक रागभाव प्रबल बना हुआ है और उस शक्ति पर कब्जा किये है, तब तक मनुष्य इच्छा करने पर भी असमर्थ ही बना रहेगा।

इसी प्रकार परस्त्रीगामी समझता है कि अगर कोई मेरी वहिन-बेटी को बुरी निगाह से देखता है, छेडता है और स्त्री धर्म पर आक्रमण करता है तो मैं उसे वर्दाश्त नही कर सकता, इसी प्रकार दूसरे लोग भी वर्दाश्त नही कर सकते, किन्तु इतना समझ कर भी वह ढीठ तव नही समझ पाता जव स्वय दूसरे की वहू-बेटी पर बुरी नजर डालता है और उसके धर्म को लूटने का प्रयत्न करता है। उस समय उसका विवेक किनारा काट जाता है, सो जाता है और उसकी सद्‌बुद्धि नष्ट हो जाती है। तव वह नही सोचता कि मैं दूसरो की वहिन-बेटी के साथ दुर्व्यवहार करूँगा, उनका अपमान करूँगा तो मेरी ही तरह उन्हे भी दुःख होगा और वे मेरा भी प्रतिकार करेंगे।

शास्त्रो ने तो थोडे मे ही वडी वात कह दी है कि—

आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।

जो व्यवहार तू अपने लिए पसन्द नही करता, वह तू दूसरो के प्रति मत कर। जो वात तुझे अप्रिय है वह दूसरो को भी प्रिय नही हो सकती। अतएव दूसरो के साथ व्यवहार करते समय तू अपने आप को ही कसौटी वना ले। तव और कोई विचार करने की आवश्यकता ही नही रह जाएगी।

अगर दूसरे तेरे साथ ठगी, चोरी, धोखेवाजी आदि करते है तो क्या तुझे उनका व्यवहार पसन्द आता है? नही, तो जव तू उनके प्रति ऐसा व्यवहार करेगा तो उन्हे कैसे अच्छा लग सकता है?

अभिप्राय यह है कि रागभाव जीवो को चक्कर मे डाल रहा है। यह राग ही है जिसने मनुष्य की बुद्धि को मलीन वना दिया

है और जो घृणित से घृणित कृत्य को भी करवा डालता है। इष्ट वस्तु के मिल जाने पर मनुष्य खुश हो जाता है और अनिष्ट वस्तु से नाराज हो जाता है। मगर बहुत वार वस्तु की बुराई और भलाई मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करती है। रागभाव के कारण बुरी चीज भी भली मालूम होती है और अच्छी चीज भी तीन कौडी की नजर आती हे। रागभाव की तीव्रता होती है तो बुरे से बुरा कार्य करने पर भी मनुष्य उतारू हो जाता है फिर चाहे उसका सिर ही क्यो न कट जाए।

शास्त्रकार कहते है कि मनुष्य राग के वशीभूत हो कर दुर्व्यसनो मे गृद्ध होता है। वह समझता है कि उसे उनम फँसने के लिए ही मानवजीवन मिला है। वह भूल जाता है कि जीवन की वास्तविक कृतार्थता विकारो के विजय मे है।

रागभाव मनुष्य को अन्धा वना देता है। कभी-कभी वह इतना कामान्ध हो जाता है कि उसके दुष्परिणामो को देखते हुए भी दूसरे की वहू-बेटियो पर पतगे की तरह कूद-कूद कर पडता है। यह विडम्वना अनादि काल से जीव के साथ चली आ रही है।

जव मनुष्य पहले पहल किसी वुरी आदत का शिकार होता है तो कहता है—मै तो यो ही कहता हूँ। मगर यो ही करते-करते वह उसका व्यसनी हो जाता है और जीवन मे वह व्यसन इतना गहरा पैठ जाता है कि छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। प्रत्येक व्यसन इसी प्रकार आरम्भ होता है।

वाप अपने वेटे को हुक्का भरने के लिए कहता है तो वह भर कर उसे मुँह से लगाता है और पीने का अभ्यास करता है। पहले

उसे उसका स्वाद अच्छा नही लगता, किन्तु ऐसा करते-करते आदी हो जाता है और फिर पिता से छिप-छिप कर बीडी और सिगरेट पीने लगता है। इस प्रकार दुर्व्यसनो का लग जाना तो आसान है पर छूटना बहुत कठिन होता है।

दुर्व्यसन इस लोक मे तथा परलोक मे भी अत्यन्त दुखदायी हैं। दुनिया के लोगो जब अन्न जल का व्यसन ही सहज मे पूरा नही होता तो दुर्व्यसनो के शिकार बन कर क्या करोगे? क्या लाभ उठाओगे? दुर्व्यसनो के चक्कर मे पड कर बडे बडे राजा, महाराजा, अमीर, उमराव अपना राज्य और अपनी ठकुराई से हाथ धो बैठे। आज भी बडे-बडे अमीर दुर्व्यसनो के कारण दीन दशा को प्राप्त हुए देखे जा सकते है। उन्हे माँगने पर भी कोई चीज नही मिलती है, क्योकि वे समझते है कि यह तो दुर्व्यसनी है और इसे दे देगे तो क्या ले लेंगे?

तो ये दुर्व्यसन मनुष्य के जीवन को अभिशाप रूप बना देते है और दुर्व्यसनी चाह कर भी उनसे छुटकारा नही पा सकता। हाँ, पुण्य का उदय हो और कोई अच्छा सयोग मिल जाए तो भले ही छुटकारा मिल जाए, अन्यथा छुटकारा पाना कठिन है।

एक राजा के एक ही लडका था, अत उस पर राजा का प्रगाढ प्रेम था। बडे प्यार से वह उसे रखता था। गलती हो जाने पर भी राजा उसे कुछ नही कहता था। किन्तु जो पुत्र लाड़ले होते हैं, उनमे प्राय कुसगति के कारण कई दुर्व्यसन प्रवेश कर जाते है। लाडला होने के कारण राजकुमार की भी यही दशा हुई। अपने मित्रो की बुरी सोहबत मे पड कर वह जुआ खेलने लगा। यही नही, शराब पीना, मास खाना, अफीम खाना, गाँजा-चरस पीना, वेश्या-

गमन करना तथा शिकार खेलना भी सीख गया। अभिप्राय यह कि वह सातो दुर्व्यसनो का शिकार हो गया। वह लाड ही लाड मे बिगड गया।

एक बार किसी हितैषी ने राजा को कुमार के बिगडने की सूचना भी दी, मगर प्यार की अधिकता के कारण उसने ध्यान नही दिया। इसलिए राजकुमार को पक्का दुर्व्यसनी होने के लिए प्रोत्साहन मिलता गया। नीतिकार कहते है -

लालने बहवो दोपास्ताडने बहवो गुणा ।
तस्मात्पुत्रश्च शिष्यश्च, ताडयेन्न तु लालयेत् ॥

धर्मशास्त्र—धर्मनीति हमे आध्यात्मिक शिक्षा देती है, किन्तु लौकिक नीति भी हमारे व्यावहारिक जीवन को सुन्दर बनाने का मार्ग प्रदर्शित करती है। अगर मनुष्य लौकिक नीति को भी अपना ले और उसके अनुकूल जीवन व्यवहार करे तो भी जीवन बहुत कुछ सुधर सकता है। मगर नीतिशास्त्र का सीखना और तदनुसार चलना भी कठिन है।

जैसे मकान बनाने के लिए बडी-बडी ईंटो की और छोटी-छोटी ईंटो की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस जीवन का निर्माण करने के लिए जहाँ बडे से बडे महाव्रतो की आवश्यकता है, उग्र तपश्चरण और कठिन नियमो की आवश्यकता है, वहाँ छोटी-छोटी विवेक रूप बातो की—व्रतो की,भी आवश्यकता होती है। जीवन को ठीक रूप से सचालित करने के लिए महाव्रतो का पालन भी करना होगा और उनके सहायक छोटे-छोटे नियमो की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा। अगर महाव्रतो की सहायक छोटी-छोटी बातो मे शिथिलता आ जायगी तो महाव्रतो मे भी शिथिलता आए बिना

नही रहेगी। अतएव साधु को अपनी साधना को बड़ी सावधानी से निभाना चाहिए और छोटी बातो पर भी पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए।

शास्त्रो मे दो मार्ग बतलाये गये है—निश्चयमार्ग और व्यवहारमार्ग। निश्चय साध्य और व्यवहार उसका साधन है। साध्यदृष्टि से निश्चयमार्ग ही हितावह है। मगर यह निश्चय मार्ग शाश्वतवादियो का मार्ग है। शाश्वतवादी का अर्थ है शाश्वत केवल-ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाला। इसीलिए शाश्वत मार्ग को प्रधानता दी गई है। केवली अपने जीवन मे मुख्य रूप से निश्चय मार्ग को लेकर चलते है। वे आगम व्यवहारी है जो भूत भविष्य की बातो को जान रहे ह। वे इन अक्षरो—शास्त्रो मे बँधे हुए नही है। वे स्वय आगम है, अतएव निश्चय को लेकर चलते है।

और ये आगम आये कहाँ से हैं ? केवलियो ब्रह्मज्ञानियो ने जो वाणी श्रीमुख से फर्माई, उसी ने आगम का रूप धारण कर लिया। वे शक्ति के केन्द्र थे और उनकी थोडी-सी ज्ञान शक्ति आगमो के रूप मे आ गई है। शास्त्र मे कहा है कि ब्रह्मज्ञानी—सर्वज्ञ भगवान् लोका-लोक के समस्त भावो को देखते है, जानते है। उनसे कोई भी वस्तु या चेष्टा छिपी नहीं है। जिस देश, काल या भाव मे और द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव को लेकर जो भी घटनाए घट चुकी है, घट रही है या घटेगी, वे उन सबको हस्तरेखा की तरह देख रहे है। सिद्धलोक मे उन्हे और क्या आनन्द है ? वहाँ उनको खाना-पीना तो है नही, केवल ज्ञान का ही आनन्द है। यहाँ तुम सिनेमा देख कर आनन्दित हो जाते हो किन्तु उनके आनन्द का तो कहना ही क्या है ! वे विश्व के समग्र भावो को अपने ज्ञान मे देख रहे है। उनका कमरा कभी टूटने वाला नही है। यहाँ तो प्रतिक्षण पदार्थों में

रद्दोवदल हो रहा है और उथलपुथल मच रही है। इसीलिए पदार्थो का अस्तित्व भी है। यदि कोई चीज वने नही और विगडे नही तो ससार रह ही नही सकता।

जो बनता है वह विगडता भी है और बनने वाले पदार्थ की—पुद्गल की असख्यात काल से अधिक स्थिति नही है। छहो द्रव्यो मे निरन्तर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हो रहा है। जो पुराना गेहूँ था वह जमीन मे डालने पर नष्ट हो रहा है और कुछ समय बाद वही नया रूप धारण कर रहा है। यह क्रम सतत अविश्रान्त गति से चल रहा है और तव तक चलता ही रहेगा जब तक उसमे उत्पन्न होने की शक्ति अर्थात् योनि रहेगी। जो उत्पन्न होने मे सहयोग दे उसी को योनि कहते है।

योनि तीन प्रकार की है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। जो पुद्गल सजीव है, उसमे भी जीवो की उत्पत्ति होती है और जो अचित्त है, वे भी योनि का रूप धारण करते है, जैसे काठ मे, गोवर मे, विष्ठा मे कीडे उत्पन्न हो जाते है।

कहा जा सकता है कि काष्ठ, गोबर आदि जड पदार्थ है तो उनमे जीवो की उत्पत्ति कैसे हो गई ? किन्तु जड होने पर भी वे जीवोत्पत्ति मे सहायक होते है। कुछ पुद्गल सचित्त और कुछ अचित्त हो तो वह योनि मिश्र कहलाती है। ऐसे जीवाजीव रूप पुद्गलो मे भी जीव उत्पन्न हो जाते है। श्रीमत् प्रज्ञापनासूत्र मे योनियो के विषय मे विस्तृत वर्णन दिया गया है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जो उत्पन्न होता है, उसका विनाश भी होता है। जो पर्याय नष्ट होते है, "वे नवीन रूप मे उत्पन्न भी होते है। नूतन उत्पाद ही पूर्व पर्याय का विनाश और

पूर्व पर्याय का विनाश ही उत्तर पर्याय का उत्पाद है। इस उत्पाद विनाश की सदैव चालू रहने वाली प्रक्रिया मे वस्तु का द्रव्य अश ध्रुव भी रहता है। इसीलिए सत् का लक्षण यही माना गया है कि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हो वही सत् या द्रव्य कहलाता है।

समुद्र मे जो लहरे तरगित हुई है वे तो उत्पन्न हो चुकी और जो उत्पन्न हुई वे शान्त हो गईं। जो शान्त हो गई थी वे फिर लहरो का नया रूप धारण कर लेती है। उत्पन्न होने का निमित्त मिल जाता है तो उत्पन्न हो जाती हे और उत्पन्न होकर मिट भी जाती है। फिर भी समुद्र तो ज्यो का त्यो वना रहता है। यही ध्रुव अवस्था है। जव लहरे उत्पन्न हुई थी, तव भी समुद्र वैसा ही था और जव मिट गई तव भी वैसा ही है।

पानी को जव पवन का वेग मिल जाता है तो लहरे उत्पन्न होती है और पानी का उछालती है। एक लहर हजारो मील तक भी जा सकती हे और किनारे पर जा कर खत्म हो जाती है। यही कारण है कि समुद्र चढता है और उतरता है।

तो जैसे-जैसे निमित्त मिलते है, वैसी ही वैसी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती है। सभी द्रव्यो मे उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य निरन्तर होता रहता है। उत्पाद और विनाश का क्रम चलता रहने पर भी द्रव्यो के मूल स्वरूप मे कोई परिवर्तन नही होता, सिर्फ पर्यायो मे परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार सारा ससार परिवर्तनशील है। कोई भी पदार्थ सदा एक रूप रहने वाला नही है।

यह जीव अपने स्वाभाविक रूप मे न कामी है, न क्रोधी है, न लोभी है, न मायावी है, न रागी है, न द्वेषी है और न विषय-

विकारी है। फिर भी हम जीव को इन दोषो से दूषित देख रहे हैं सो यह पर परिणतियाँ है। यह जीव की निज की परिणतियाँ नही है। जब हम इसे क्रुद्धावस्था मे ताण्डवनृत्य करते देखते है तो यह पर-परिणति का ही दोप है। मनुष्य दारू पी कर अटसट बोलता है, कपडे उतार कर फैकता है, किन्तु यह उसका स्वभाव नही है, वरन् दारू का प्रभाव है। जब दारू का नशा उतर जाता है तो वह अपने रूप मे—पूर्व स्थिति मे—आ जाता है।

इसी प्रकार इस आत्मा ने भी मोह रूपी मदिरा का पान कर रक्खा है। इसी कारण इस की चेष्टाएँ विपरीत हो रही हे।

तो मैं कह रहा था कि मार्ग दो है और केवली उनमे से निश्चय को लेकर चलते है—उच्च कोटि के ध्येय को लेकर प्रवृत्ति करते है। अतएव उनके लिए निश्चय की प्रधानता और व्यवहार की गौणता है। इसका अभिप्राय यह नही कि वे व्यवहार का परित्याग कर देते है। कहा भी है—

"यद्यपि शुद्ध लोकविरुद्ध, न हि करणीय नाचरणीयम्।"

अर्थात् जो कार्य शुद्ध पवित्र होने पर भी लोकविरुद्ध हो उसका आचरण नही करना चाहिए। जिस कार्य को करने से लोग आवाज कसे और कहने-सुनने का अवसर आवे ऐसे लोकविरुद्ध कार्य करने योग्य नही है।

सज्जनो! यह ससार कोयलो की कोठरी है। यह कटकाकीर्ण मार्ग है। यहाँ सँभल कर चलने की आवश्यकता है। असावधानी से पैर रक्खा तो काँटे चुभ जाने का डर है। कपडे और मुँह काले हो सकते है।

तो केवलियो के लिए यद्यपि निश्चय की मुख्यता है तथापि वे व्यवहार का त्याग नही करते, उसकी उपेक्षा भी नही करते वल्कि उसका भी ध्यान रखते हे । और इसीलिए ध्यान रखते है कि आगे आने वाली पीढी उनका गलत अनुकरण न करने लगे । क्योकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन ।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुप—वडे आदमी जो करते है, साधारण लोग उनकी देखा-देखी करते है ।

किन्तु हमारा मार्ग दूसरा है। हमारे लिए व्यवहार की मुख्यता और निश्चय की गौणता है । निश्चय हमारे जीवन मे थोडा काम आता है किन्तु व्यवहार का हमारे जीवन से विशेप सम्वन्ध है । हम व्यवहार-मार्ग के पथिक है । अतएव हमे ठीक रूप से व्यव-हार का पालन करके निश्चय की ओर अग्रसर होना चाहिए ।

सज्जनो ! ठीक मार्ग पर होशियारी से चलने पर भी अगर कोई छीटाकशी करता है, दोपारोपण करता है, तो उसकी इच्छा ! हम दुनिया के मुंह पर ताला नही लगा सकते । हॉ, हमे कॉटो से वच कर ही चलना चाहिए और अपने अन्त.करण के प्रति प्रामाणिक रहना चाहिए ।

तो मैं कह रहा था कि पांच महाव्रत हमारी आत्मा का कल्याण करने वाले है और पूर्णरूपेण समाचारणीय है । किन्तु उन महाव्रतो की रक्षा के लिए छोटी-छोटी वातो का भी ख्याल रखना चाहिए । उठना, वैठना, खाना, पीना, वोलना, चलना, परठना आदि २ क्रियाएँ भी महाव्रतो से सम्वन्ध रखती हैं। शिष्य ने भगवान् से प्रश्न किया है—

कह चरे कह चिट्ठे, कहमासे कह सए ?
कह भुजतो भासतो, पावकम्म न वधई ?

—दशवैकालिक, अ ४ गा ७

हमारे जीवन के लिए जो क्रियाएँ अनिवार्य है और जिनका जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो करने योग्य है, वे क्रियाएँ तो करनी ही होती है, मगर करने के तरीके अलग-अलग होते है। भले ही वस्त्र वहुमूल्य हो किन्तु सीने वाला दर्जी यदि कुशल नही है तो उसे बिगाड देगा। घी, आटा, दाल, चावल आदि सामग्री उत्तम होने पर भी रसोई वनाने वालो धर्मपत्नी जी यदि होशियार नही है तो रसोई रसायन के वदले फेंकने के योग्य हो जाती है। उसे कोई पसन्द नही करेगा और यदि वनाने वाला होशियार है तथा दर्जी निष्णात है तो भोजन और वस्त्र सुन्दर तैयार हो जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवन मे भी काम करने के लिए बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है।

तो क्या साधु पत्थर की तरह एक ही स्थान पर जमा रहे ? नही, नही। साधु को आना-जाना भी होगा और खाना-पीना भी होगा। समस्त शारीरिक क्रियाएँ, जो उपयोगी है, करनी होगी। परन्तु उनको करने का एक ढग होना चाहिए ? क्रियाएँ इस तरीके से की जाएँ जिससे पाप कर्मो का वन्ध न हो। यही वात पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कही है। भगवान् फर्माते है—हेसाधो !

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भुजतो भासतो, पावकम्म न वधई ॥

अर्थात्—यत्नपूर्वक—विवेक के साथ चलो, बैठो, उठो, सोओ, वोलो और परठो। प्रत्येक क्रिया विवेक के प्रकाश मे करो। इस

प्रकार आचरण करने से पापकर्मो का वध नही होगा।

शास्त्र मे कहा है कि साधु गोचरी के लिए जावे तो कवाड आदि को पकड कर खडा न होवे और न ही स्नानगृह और शौचालय की ओर नजर न डाले।

सज्जनो ! प्राथमिक स्थिति मे बच्चे को टट्टी-पेशाव करने की भी तमीज नही होती, किन्तु माता-पिता उसे सिखाते है और सीखने के बाद वह होशियार हो जाता है। इसी प्रकार महापुरुष हमारे मॉ-वाप थे और हम बच्चो की तरह भूल जाने वाले हैं। अत-एव उन्होने कहा—खडे रहना हो तो इस तरह खड़े रहो और बोलो तो इस तरह बोलो। सोना हो तो भी तरीके से सोओ। इस प्रकार सोओ, कि करवट बदलने का भी भान रहे और पहले पूंज कर फिर करवट बदलो।

सज्जनो ! सत्य तो सत्य ही रहेगा। अगर हम प्रमाद के कारण पूर्णरूपेण पालन न कर सकते हो तो यह हमारी कमजोरी है और वह कमजोरी यदि नजर के सामने रक्खी जाए तो एक दिन दूर हो जाएगी। यदि कमजोरी करके सिरजोरी दिखाई तो वह कमजोरी जीवन मे सदा के लिए व्याप्त ही रह जाएगी।

साधु के लिए भोजन करने की भी मर्यादा बतलाई गई है। ऊट की तरह गर्दन ऊँची किए हुए भोजन नही करना चाहिए, बल्कि देख-देख कर एकान्त मे शान्ति के साथ अनासक्त भाव से यत्न पूर्वक करना चाहिए।

यद्यपि ये खाने-पीने, उठने-बैठने आदि की बाते छोटी-छोटी है और व्यावहारिक है तथापि सयम की द्योतक है। इनकी ओर पूरा

ध्यान रहेगा तो सयम अच्छी तरह पलेगा और इनमे शिथिलता दिखलाओगे तो महाव्रतो मे भी शिथिलता आने की सम्भावना रहेगी। यह छोटी सी उगली भी अगर निकल जाती है तो पानी पीने मे कठिनाई हो जाती है। सच तो यह है कि सयम और विवेक हमारी आदत मे सम्मिलित हो जाना चाहिए। वह व्यसन वन जाना चाहिए।

.मगर व्यसन का अर्थ यहाँ दुर्व्यसन नही समझना। दुर्व्यसन तो हर हालत मे त्याज्य ही है, क्योकि कोई भी दुर्व्यसन लग तो सहज ही मे जाता है, मगर उस का मिटाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

तो राजकुमार लाड ही लाड मे पक्का दुर्व्यसनी वन गया। लोक मे कहावत है कि बेटा, बेटी और बीदणी (बीदणी मारवाड मे पुत्र वधु को कहते है) यदि ये लाड ही लाड मे रह जाते है तो बिगडे विना नही रहते। बिगड जाने के बाद उनका काबू मे आना कठिन होता है। हाँ, यदि चेला-चेली को, बेटा-बेटी को और वधु को समय-समय पर उचित शिक्षा देते रहो, ताडना भी करते रहो और लाड की जगह लाड भी लडाते रहो, गर्माई की जगह गर्माई और नरमाई की जगह नरमाई दिखलाते रहो तो वे कुमार्ग पर नही जाएँगे और आज्ञाकारी रहेगे। वे अपनी जीवन-नैय्या को भली-भाँति पार लगा सकेगे।

सज्जनो! बुखार के रोगी को किसी समय मीठी दवाई देने की आवश्यकता होती है तो मीठी दी जाती है और यदि मीठी दवा से रोग नही मिटता तो फिर कुनेन भी देनी पडती है। तो जहाँ सुधार का प्रश्न हो, हितबुद्धि से अवश्य शिक्षा देनी चाहिए। सुधारना चाहिए पर बिगाडना नही चाहिए।

तो तात्पर्य यह है कि हमे अपने प्रत्येक छोटे-वडे व्यवहार मे सावधान रहना चाहिए और अपनी छोटी सी त्रुटि की भी उपेक्षा नही करनी चाहिए। कहा है—

ईर्या भाषा एषणा, ओलख लो आचार।
गुणवत साधु देख के, वदो वारवार॥

साधु के साधुत्व का पता उसकी चाल और वोली आदि मे ही चल जाता है।

यह ठीक है कि साधु भी छद्मस्थ है और उससे भूल हो जाना स्वाभाविक है। भगवान् महावीर के समय मे भी साधु साधना मे एक समान नही थे। आप अपने घर को ही देखो। सव वेटे सरीखे विचारो के नही मिलेंगे। फिर भी भूलो की सराहना नही करनी है और जिस-जिस मे जो-जो त्रुटियाँ हो उन्हे दूर करना है। किसी के शिथिलाचार का पोषण नही करना है, परन्तु उसे सहन-शील होकर दूर करना है।

हा तो राजा ने राजकुमार के दुराचार की उपेक्षा की तो राजकुमार विगड गया। जव मामला वहुत वढ गया तो उसे वहुत समझाया और राह पर लाने की कोशिश की, मगर उसके दुर्व्यसन दूर नही हुए। परिणाम यह हुआ कि उसे कई रोगो ने घेर लिया। चिकित्सा के लिए कई वैद्य आए, डाक्टर आए और उन्होने नाना प्रकार के उपचार किये, कीमती से कीमती दवाएं दी, साथ ही उन्होने कहा—जव तक राजकुमार दुर्व्यसनो को नही छोडेंगे तव तक ये दवाएँ असर करने वाली नही है।

राजा आदि ने कुमार को वहुत समझाया कि शराव, भग, अफीम, चरस आदि का सेवन छोड दो तो स्वस्थ हो सकते हो, किन्तु

वह उन्हे छोडने को तैयार न हुआ। उसने कहा—इन्हे छोड कर जिन्दा रहने से भी क्या लाभ है? इन्हे छोडना तो मेरे लिए प्राण छोडना है।

आखिर चिकित्सक निराश हो कर चले गये। राजा की चिन्ता का पार न रहा।

सज्जनो! अगर राजा ने पहिले ही ध्यान दिया होता और कुमार को बिगडने से रोका होता तो आज यह अवसर न आया होता और यह दुर्दिन देखने को न मिलता। मगर पहले तो वह लाड लडाता रहा।

राजा मन मे सोचता है—मेरा एक ही कुमार है और उसे कुछ हो गया तो राज्य का उत्तराधिकारी ही कोई नही रहेगा।

सयोगवश कुछ दिनो बाद देश-देश मे विचरण करने वाले एक महात्मा वहाँ जा पहुँचे। राजा भी उनकी सेवा मे पहुँचा। पर वहाँ पहुँच कर भी उसकी चिन्ता क्षण भर के लिए भी दूर न हो सकी। उसके मस्तिष्क मे विचार आने लगे—कुमार बीमार है और चिकित्सक हताश हो कर चले गए है। वह चल बसा तो मेरे कुल का प्रकाश ही बुझ जाएगा।

आखिर राजा ने अपने दुख की कहानी महात्मा को सुनाई। तब महात्मा ने कहा—तुम बहुतो का इलाज करा हो चुके हो, मेरा भी इलाज करा देखो। अगर रोग की समाप्ति का काल निकट आ गया होगा तो अवश्य मेरी दवा से लाभ हो जाएगा।

राजा राजी हो गया। दूसरे दिन राजा राजकुमार को साथ लेकर महात्मा जी की सेवा मे पहुँचा। महात्मा ने राजकुमार की अदरूनी नब्ज देखी और कहा—मै इलाज़ कर दूँगा।

राजकुमार ने पूछा—महाराज, आप इलाज तो करेगे पर पथ्य-परहेज क्या है ?

राजकुमार को भय था कि कही महाराज मेरी शराब अफीम आदि न छुडा दे।

महात्मा बोले—दवा के साथ पथ्य तो आवश्यक है कुमार, मगर वह कठिन नही है। तुम जिन-जिन चीजो का सेवन करते हो उन्हे कल से दुगुनी कर देना।

राजकुमार को और चाहिए ही क्या था ? उसने प्रसन्नता के साथ यह पथ्य स्वीकार कर लिया। मन मे सोचा—यह तो बडे अच्छे वैद्य मिल गये। वे डाक्टर, वैद्य निगोडे कहते थे—शराब वगैरह का सेवन बन्द कर दो मगर इन्होने तो दुगुनी सेवन करने को कह दिया। वास्तव मे ये महात्मा अन्तर्यामी है।

प्रकट मे राजकुमार ने कहा—मैं आपकी दवा अवश्य आरंभ करूँगा। आप हमारे बड़े शुभचिन्तक है। महाराज, इन वस्तुओ के सेवन मे क्या गुण है ?

महात्मा—इन्हे दुगुना करने मे चार गुण है। वे यह है—(१) जो बीड़ी, मुलफा आदि पीता है, उसके घर मे चोर नहीं आते अर्थात् वह रात भर खो-खो खासता रहता है। (२) वह मोटा ताजा हो जाता है, अर्थात् उसके शरीर मे सूजन आ जाती है। (३) उसको चढने के लिए सवारी मिलती है, अर्थात् वह पैरो से

चलने मे असमर्थ हो जाता है। (४) उसे बुढापे का दु ख नही देखना पडता, अर्थात् भर जवानी मे ही उसकी मौत हो जाती है।

महात्मा का यह स्पष्टीकरण सुन कर राजकुमार की आँखे खुल गई। वह घबरा कर बोला—महाराज, ये तो बड़े भारी दुर्गुण हैं। रात-रात भर नीद न आना, शरीर सूज जाना, चला न जाना और जवानी मे मर जाना। महाराज, लानत है ऐसे दुर्व्यसनो को जो मनुष्य की जिन्दगी को बर्बाद कर देते है। मुझे इसका आज से ही त्याग करा दीजिए। आज से मै इन जीवननाशक वस्तुओ की ओर फूटी आँख से न देखूंगा।

महात्मा ने राजकुमार को सब व्यसनो का त्याग करा दिया। राजा के सन्तोष और आनन्द की सीमा न रही। उसे जान पडा, मानो मैंने गया बेटा फिर पा लिया। उसके जीवन मे भी नया प्रकाश आ गया।

राजकुमार को नया जीवन मिला। वह सन्मार्ग पर आ गया और अपने कुल का दीपक बना।

तात्पर्य यह है कि राग मनुष्य के परलोक को ही नही बिगाड़ता, बल्कि इहलोक का भी बिगाड देता है। यह आत्मा का परम शत्रु है। इसके रहते मनुष्य नेत्र होते भी अन्धा और कान रहते भी बहरा बन जाता है। अतएव जीवन को सही राह पाने के लिए अत्यावश्यक है कि रागभाव का त्याग किया जाए। पूरी तरह त्याग सम्भव नही है तो कम से कम उसे इतना प्रबल तो नहीं होने देना चाहिए कि वह राहु बन कर जिन्दगी को ही निगल जाए।

जो भव्य जीव इस वस्तु-तत्त्व को समझ कर राग का त्याग करते है, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
१६--१०—५६

आन्तरिक दोष-परित्याग

उपस्थित महानुभावो !

कल राग, द्वेष और, मोह, इन तीन दोपो मे से राग की किंचित् व्याख्या की गई थी । दो दोपो की व्याख्या अभी शेप है। आज उन पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा ।

आप जानते ही हे कि इन दोपो ने आज से नही, अनन्त-अनन्त काल मे आत्माओ को अपने चगुल मे फँसा रक्खा है, ये दोप सदा से ससारी जीवो को सत्रस्त कर रहे है । इन्हे उखाड फेंकना सहज नही है। फिर भी मोक्षगामी भव्यात्माए साधना के वल पर उन्हे उखाड फेंकती हे।

जिसने भारतवर्ष का इतिहास पढा हे, उसे पता हे कि आज से कुछ सौ वर्प पहले ब्रिटिश-अगरेज लोग भारत मे आये थे और व्यापारी वन कर आये थे । उन्होने अपनी हिकमत से, बुद्धिमत्ता से छलकपट से धीरे-धीरे सारे भारत पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया और फिर लम्बे समय तक शासन किया। उन्होने मीठे ठग की तरह आकर्पण दिखा-दिखा कर भारतीय प्रजा को लूटा-खसोटा और यहाँ की अपार सम्पत्ति, कोहेनूर हीरा तक, ले गये। वे यह तो समझते थे कि यहाँ हमारा राज्य है, मगर यह नही मानते थे कि यह हमारी मातृभूमि है । उनका मोह लदन से था और उनकी आँखे सदैव उसी ओर रहती थी। शासक होने पर भी उनके हृदय मे अपने

परायेपन का पक्षपात था। जिस देश पर शासन करके शासक फलता-फूलता है उस पर उसकी सुदृष्टि रहनी चाहिए, किन्तु उनकी राज-नीति ने यह समदृष्टि नही अपनाई। उमका परिणाम यह निकला कि अन्त मे उन्हे अपना बोरिया-बिस्तर समेट कर भागना पडा। सत्य और अहिसा से प्रेरित हो कर गाधी जी की एक ऐसी आँधी आई कि उन्हे यहाँ से उखड जाना पडा और वे लदन मे जाकर ही टिके। इस प्रकार उनकी राग-द्वेषमयी परिणति ने ही उनके शासन को जडो को खोखला कर दिया।

ब्रिटिश साम्राज्य इतना लम्बा-चोडा था कि लोग कहते है—उसमे सूर्यास्त ही नही होता था। यो तो चक्रवर्ती से बडा कोई राजा हुआ नही और होगा भी नही, परन्तु इस काल मे जानी हुई दुनिया मे ब्रिटिश साम्राज्य ही सब से ज्यादा विस्तृत था। मगर उनकी दुर्नीति के परिणामस्वरूप वह विशाल साम्राज्य टिक न सका और धीरे-धीरे क्षीण क्षीणतर होता गया। कई देशो पर से उसका शासन नष्ट हो गया।

जिसका हृदय विशाल होता है, उसे सब पदार्थ विशाल ही दृष्टिगोचर होते है। और जब मनुष्य के हृदय मे सकीर्णता आ जाती है अपनत्व-परत्व की क्षुद्र भावना बढ जाती है तो दृष्टि के अनुसार सृष्टि भी सकीर्ण हो जाती है। दृष्टि मे सकीर्णता आने पर सृष्टि सकीर्ण ही दिखाई देती है, क्योकि आँखो मे देखने की जितनी शक्ति होगी, उतना ही वह देख सकेगी।

मनुष्य को चाहिए कि वह राग-द्वेष से ऊँचा उठ कर अपने हृदय को विशाल बनावे और उसमे सकीर्णता न आने देवे। सकीर्णता आने पर उसका जीवन सिमट कर छोटी-सी दुनिया मे सीमित रह

जाता है। इसके विपरीत, जब मनुष्य के हृदय मे विशालता आती है, तब वह समझने लगता है कि जगत् के प्राणीमात्र मेरे है और मैं इनका हूँ, तो सारा विश्व ही उसके लिए आत्मवत् बन जाता है। ससार मे उसका कोई शत्रु नही रहता।

मगर दृष्टि मे इस प्रकार की विशालता तभी आती है जब राग-द्वेष की परिणति का शमन होता है। जो राग और द्वेष से ग्रस्त है, उनकी दृष्टि विशाल नही हो पाती।

तो मैं कह रहा था कि मनुष्य की दृष्टि मे ज्यो-ज्यो सकीर्णता आती है, त्यो-त्यो उसका हृदय भी सकीर्ण होता है। काफी अर्से तक शासन करने पर भी अगरेजो की दृष्टि मे विशालता न होने से उनके चले जाने की तारीख मुकर्रर कर दी गई, पर वे उस तारीख से पहले ही बिस्तर गोल कर गये। उनका भारतवर्ष मे व्यापारी बन कर आना और शासन करना भी इतिहास मे लिखा है और जाना भी इतिहास मे लिखा है। मनुष्य की अच्छी-बुरी सभी बाते नोंध मे आ जाती है।

अगरेजों ने शासन स्थापित करने के लिए लडाइयाँ लडी और सघर्ष किया और जब वे यहाँ से गये तो यो ही नही चले गये। उन्हे निकालने के लिए भारतवासियो को अनेक बलिदान देने पडे। कितने ही देशभक्त फाँसी के तख्ते पर झूल गये, तब कही वे यहाँ से निकल सके।

मगर एक बात ध्यान मे रखना है। अगरेज स्थूल दृष्टि से तो यहाँ से चले गये पर सूक्ष्म दृष्टि से अब भी मौजूद है। अर्थात् उनकी फैलाई हुई जहरीली गैस अब भी काम कर रही है और भारत मे

शान्ति स्थापित होने मे बाधक बन रही है। आज भी भारतवासियो को वरगलाने वाले विदेशी जासूस पकडे जाते है।

तो कहना यह है कि उनके चले जाने पर भी उनके छोडे हुए तपैदिक के कीटाणु भारत मे बराबर काम कर रहे है। अगर भारत के डाक्टर परिश्रमी न होते, होशियार न होते तो भारत का कभी का शरीरान्त हो गया होता। वे तो बडी आशा से तपैदिक के कीटाणुओ को छोड कर गये थे। समझते थे कि भारतीय इनसे मर जाएँगे और हमे इलाज करने के लिए फिर बुलाएगे, किन्तु यहाँ के डाक्टर डाक्टर ही नही, धन्वन्तरि वैद्य भी है। उन्होने उन कीटाणुओ का सफाया कर दिया। अब न रहेगा बास न बजेगी बासुरी।

करीब छ सौ रियासते अगरेजो की भक्त थी। वे इस देश के लिए तपैदिक के कीडो के समान मानी जाती थी। पटेल जैसे देश-भक्त राजवैद्य ने सब से पहले, बडी हिकमत से उन्ही की नाक मे नकेल बाधी और सब को समाप्त करके नवीन प्रदेशो को जन्म दिया। उसने सोचा अधिक इकाइयाँ रहेगी तो भारत की स्थिति कमजोर ही बनी रहेगी और कभी छिन्न-भिन्न होने का भी प्रसग आ जायगा। उसने राजाओ से कहा—यह राज्य तुम्हारा है, शासन तुम्हारा है और हम सब तुम्हारे हैं। आओ, हम सब मिल कर अपनी मातृभूमि की सेवा करे।

सज्जनो! शताब्दियो के निरकुश शासकों को काबू मे करना आसान काम नही था और देश को सुसगठित करने के लिए पृथक्-पृथक् इकाइयो का विलीनीकरण होना भी अत्यावश्यक था। वह होने से ही भारत की शक्ति दृढ हुई और भारत का शरीर सुन्दर

सुव्यवस्थित दिखाई देने लगा । शरीर से हाथ पैर आदि अवयव अलग कर दिये जाते है तो वह शरीर नही कहलाता और उन जुदा-जुदा अगो का भी कोई महत्त्व नही रहता । वे किसी काम के भी नही रहते । किन्तु वही अग जब शरीर से सबधित रहते हैं तो शरीर उपयोगी रहता है और सब अग भी अपना-अपना काम करते रहते हैं ।

इसी प्रकार राष्ट्र, समाज, जाति एव सघ की शक्तियाँ जुड़ी रहती है तो वह राष्ट्र और समाज आदि सुचारुरूपेण काम करते हे और सिर ऊँचा कर के चलते हे । सुसगठित समाज ही दुनिया मे शान के साथ, गौरव के साथ और आनन्द के साथ अपनी जिदगी व्यतीत करता हे । विघटन और अस्तव्यस्तता समाज के लिए अभिशाप है और उस के रहते जीवन कीडो-मकौडों का जीवन बन जाता है ।

तो मै यह कह रहा था कि भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य सीमित समय से था, फिर भी उसे हटाने के लिए भारत के सपूतो को, नौनिहालो को और रमणियो को जीवन की आहुति देनी पडी और बडी मुसीबतो का सामना करना पडा । किन्तु ऐसी स्थिति मे जो राग द्वेष और मिथ्यात्व की त्रिमुखी शक्ति हमारी आत्मा पर अनन्त काल से शासन कर रही है और बडी हिकमत से अपना आधिपत्य जमाए हुए है, उसका उखाडना कितना कठिन है ! उसे निकालने के लिए भारी कुर्बानी करनी ही पड़ेगी । जब इन लौकिक तत्त्वो को निकालने के लिए भी बड़े दिमाग और होशियारी की तथा त्याग की आवश्यकता होती हे तो इन आन्तरिक तत्त्वो के पृथक्करण के लिए कितना उत्सर्ग करना होगा, यह कल्पना करना कठिन नही है ।

तो शिष्य ने गुरुदेव से जो प्रश्न किया है, वह बडे महत्त्व का है। प्रश्न यो ही नही किया जाता । उस के लिए भी योग्यता चाहिए। जैसा प्रश्न होगा, उत्तर भी वैसा ही होगा । उच्च कोटि का प्रश्न वही कर सकता है जिस मे उच्च कोटि की योग्यता हो। प्रश्न करने के लिए बुद्धि चाहिए और हौसला भी चाहिए।

यहाँ जो प्रश्न प्रस्तुत है अतीव उपयोगी है । उससे आत्मा की उलझी हुई गुत्थी सुलझ सकती है । शिष्य कहता है - भगवन् आत्मा मे उपरोक्त तीन दोष लगे हुए है । इन्हो ने आत्मा पर साम्राज्य स्थापित कर रक्खा है । आत्मा की स्वाधीनता को छीन लिया है। आत्मा को परतन्त्रता के पाश मे जकड दिया है । इनके कुप्रभाव के कारण आत्मा सन्मार्ग की ओर न जाकर कुमार्ग की ओर अग्रसर हो रहा है।

पहले एक अग्रेज अफसर होता था तो हजारो हिन्दुस्तानी सैनिक गाडरो की तरह उसकी तैनाती मे रहते थे । वह उन्हें मनचाहा नाच नचाता था। इसी प्रकार ये तीन दोप जीव को अपनी उगलियो के इशारे पर नचा रहे है । इन तीन महान् दोषो मे प्रथम भयानक शत्रु राग है । यद्यपि राग पुद्गल रूप है और उष्ण नही शीत पुद्गल रूप है, किन्तु इतना जहरीला और गुणघातक है कि इसके प्रभाव से जीव अपने को ही भूल जाता है।

रागान्ध पुरुष की निर्णायक शक्ति नष्ट हो जाती है । उसे अपनी वस्तु के सिवाय दूसरो की अच्छी से अच्छी वस्तु भी पसद नही आती। वह अपनी सडी-गली वस्तु को भी सर्वोच्च मानता है और दूसरो की उत्कृष्ट वस्तु को निकृष्ट समझता है। राग दृष्टि को इस प्रकार सदोष बना देता है।

सरागी की दृष्टि इतनी मलीन होती है, इतनी क्षुद्र होती है कि वह अपनी इज्जत, शान और आन को बढाने के लिए कोशिश करता है पर दूसरो की इज्जत और शान को मिटा कर। वह चाहता है कि दूसरो की इज्जत तो मिट्टी मे मिल जाय और मेरी बढ जाय। कभी-कभी तो वह दूसरो की इज्जत के बिगडने मे ही अपनी इज्जत मानता है।

भद्र पुरुषो! इज्जत बढने का यह तरीका नही है। कोई लाख कल्पनाएँ कर ले, कोशिश कर ले और इच्छा कर ले कि मै दूसरा की शान बटोर लूँ। मगर ऐसा होने वाला नही है। भाई दूसरे ने मान के योग्य काम किये तब उन्हे मान मिला है। तू तो उलटे काम कर रहा है। तुझे मान कैसे मिलेगा? निन्दनीय कृत्यो मे तुझे सन्मान किस प्रकार मिल सकता है? जो रात है वह दिन के प्रकाश को लौटा नही सकती। क्योकि जो रात स्वय काली है, वह दिवाप्रकाशमयी कैसे बन सकती है?

श्रीमद् भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है कि भगवन्! दिन क्या है और रात्रि क्या है?

भगवान् ने उत्तर दिया—दोनो ही पुद्गल हैं। परन्तु जो पुद्गल शुभ हैं और जिनसे अन्धकार का नाश होता है, वे जब प्रकाशित होते ह तो वही दिन कहलाता है। और जब अशुभ पुद्गलो का साम्राज्य होता है तो निबिड़ अन्धकार छा जाता है। वही रात्रि कहलाती है।

इस प्रकार रात्रि और दिन, दोनो को उत्पन्न करने वाले पुद्गल इसी विश्व मे विद्यमान हैं। इस पूर्वोक्त कथन मे प्रश्न मे

बडी विषमता उत्पन्न हो जाती है और समस्या टेढी हो जाती है। जब दोनो ही प्रकार के पुद्गल विश्व मे सदैव विद्यमान रहते है तो दिन के समय रात्रि और रात्रि के समय दिन क्यो नही होता ? दोनो बारी-बारी से क्यो होते है ? आखिर इस प्रकार के विभाग का कारण क्या है ?

सज्जनो ! बात यह है कि ससार मे दोनो प्रकार के पुद्गल तो हर समय विद्यमान है किन्तु जिस समय सूर्य उदय होता है और उसकी प्रकाशमयी किरणे फैलती है तो वे पुद्गल जो शुभ है, वर्ण, रस, गध और स्पर्श से अच्छे है, सूर्य का सयोग मिलने से चमकने लगते है और इस प्रकार दिन हो जाता है। जैसे—आँखे पहले ही अच्छी हो और फिर चश्मा लगा लिया जाय तो उनकी रोशनी चमक उठती है, उसी प्रकार स्वभाव से स्वच्छ पुद्गल सूर्यरश्मियो के सयोग से विशेष रूप से चमकने लगते है।

चश्मा लगाने से आँखो मे कोई नई रोशनी नही आ गई। वह तो पहले से ही विद्यमान थी। पर उसे चमका देने मे चश्मा निमित्त बन जाता है। अगर आँखो मे रोशनी न होती तो एक चश्मा तो क्या हजार सूर्य भी रोशनी उत्पन्न नही कर सकते थे। आप जानते है कि किसी की आँखो की रोशनी इतनी धुधली होती है कि वह बारीक अक्षर नही पढ सकता। किन्तु चश्मा लगाते ही छोटे अक्षर साफ और बडे दिखलाई देने लगते है।

तो दिन को जन्म देने वाले पुद्गल रात्रि मे भी मौजूद थे। पर उस समय उन्हे समुचित सयोग नही मिला था। सूर्योदय होने पर वह सयोग मिलता है और इसी कारण वे प्रकाशमान हो उठते है। अशुभ पुद्गल उनके प्रभाव से तिरोहित हो जाते है, जैसे थोड़े

से पीले रग मे काला रग डाल दिया जाय तो वह तन्मय हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि रोशनी तो पहले भी थी और चश्मा लगाने पर भी है, किन्तु चश्मे के निमत्त से वह आविर्भूत हो जाती है।

सज्जनो! यो तो रात्रि मे भी दिखलाई देता है और आप पूछ सकते है कि रात्रि को दिखाई देने का क्या कारण है? यद्यपि आप रात मे अधिक नही देख सकते मगर उल्लू और चमगादड के लिए तो रात भी दिन के समान है। उन्हे अन्धेरे मे ही दिखाई देता है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तो उनकी जान मे जान आती है। सूर्यास्त का समय उनके लिए प्रभातवेला है। प्रभात की लाली आपके लिए दिन का उदय है तो सन्ध्या की लालिमा को वे अपने लिए सूर्योदय समझते है।

जहाँ सज्जन पुरुषो के लिए दिन मे दिन और रात मे रात है, वहाँ क्षुद्र-नीच प्राणियो के लिए दिन मे रात और रात मे दिन होता है। जिसका जैसा स्वभाव है, उसके लिए वस्तु वैसी ही प्रतीत होने लगती है।

तो रात में भी किसी-किसी प्राणी को दीखता है, क्योंकि आँखो का शीशा ही वैसा है। चश्मा देने से पहले डाक्टर, जिसे चश्मा देना होता है उसकी आँखो की रोशनी की परीक्षा करने के लिए काली कोठरी मे ले जाते है। फोटो खीचते समय भी कैमरे पर काला पर्दा लगा लिया जाता है। क्योकि फोटो खीचने वाला यन्त्र प्रकाश मे काम नही करता।

अरे ! बनावटी यन्त्र—शीशा-मनुष्य की तैयार की हुई चीज का भी ऐसा स्वभाव है कि वह अन्धेरे मे ही काम करता है तब सज्जनो ! जिन्हे कुदरती शीशा ही ऐसा मिला है उन्हे अन्धेरे मे ही नजर आवे तो कौन-सा आश्चर्य है ?

तो दिन और रात के विषय मे मैने आपको बतलाया कि यह शुभ और अशुभ पुद्गल स्वरूप है। मगर इतना कह देना ही पर्याप्त नही है। यद्यपि भगवतीसूत्र मे ऐसा उल्लेख है और शास्त्रीय वचन विश्वसनीय होते है। तथापि मस्तिष्क की तुष्टि उसके व्यौरे को समझे बिना नही होती। जब किसी तथ्य को प्रमाणित करने के लिए प्रमाण, हेतु, उदाहरण उपस्थित कर दिये जाते है तो वह स्पष्ट हो जाता है। हाँ, कई विषय ऐसे भी होते है जिनमे तर्क का प्रवेश ही सभव नही होता, ऐसे विषयो को आत्मकथनमूलक ही मानकर स्वीकार करना पडता है और करना चाहिए। हमारी स्थूल मति उनमे अवगाहन नही कर सकती। वे विषय केवल ज्ञानियो की लोकोत्तर दृष्टि मे ही आ सकते है। अतएव उनमे क्यो और कैसे का प्रश्न नही उठ सकता। उदाहरणार्थ मोक्ष के सुख को लीजिए। मोक्ष मे अनन्त असीम आत्मिक सुख है, यह केवली भगवान् का कथन है। परन्तु उसकी स्पष्ट कल्पना हमे नही आ सकती। उसको समझाने के लिए कोई उपमा नही है। वह असाधारण वस्तु है। उपमा दे तो किससे दे ? ससार की सब उपमाएँ उसके सामने नगण्य है। सूर्य अपनी शानी का एक ही है तो उसके लिए किसकी उपमा दी जाय ? चन्द्रमा भी असाधारण है और उसकी तुलना किसी से नही की जा सकती।

तो मोक्ष के सुख के लिए कोई उपमा नही है। मोक्ष सरीखा उसमे वढ कर दूसरा कोई सुख होता तो उपमा वन जाती। मगर ऐसा है नही।

साधारणतया ऐसा कोई पुद्‌गल नही है जिसके मुकाविले का दूसरा पुद्‌गल न हो। ज्ञानी पुरुषो ने वताया है कि आज जो पुद्‌गल अमुक एक सस्थान मे नजर आते है, वही दूसरे क्षण दूसरे रूप ढल जाते हैं। वर्ण रस गध और स्पर्श पुद्‌गल का स्वभाव है और उसका किसी आकृति विशेप मे ढल जाना सस्थान है। हम किसी भी चीज को एक सस्थान मे ढली हुई देखते है, जैसे यह गोल है, लम्वी है, चौडी है, त्रिकोण है या चतुष्कोण है। परन्तु ज्ञानी पुरुप एक ही वस्तु मे एक साथ अनेक सस्थान देखते है। हम व्यवहार मे एक वस्तु का एक सस्थान कहते है और कहना चाहिए भी, क्योकि जैसी वस्तु हमे दीखती हो, उसे वैसा ही कहना चाहिए, फिर भी वाह्य और अन्तरग दृष्टि को ध्यान मे रखना पडेगा।

हमे जहाँ काली, पीली, नीली या लाल मे से किसी एक ही रग की वस्तु दिखलाई देती है और हम समझते है कि वस्तु मे एक ही रग है, मगर ज्ञानियो का कथन है कि एक ही वस्तु मे पाँचो रग वर्त्तमान है। यद्यपि कोयला काला ही दृष्टिगोचर होता है परन्तु ज्ञानियो ने उसमे भी पाँचो रग वतलाए है। गुलाव का फूल भले ही हमे एक ही रग का दीखता हो लेकिन ज्ञानियो ने उस मे भी पाँचो रग देखे है। वात यह है कि हमारी स्थूल दृष्टि स्थूल रग को ही ग्रहण कर सकती है। सूक्ष्म रग उसकी पकड मे नही आते।

तो ससार मे ऐसा कोई भौतिक पदार्थ नही है जो एकान्तत. अपनी ही सानी का हो और उसके मुकाबिले का कोई दूसरा पदार्थ हो ही नही।

तो बतलाया गया है कि रात और दिन दोनो ही पुद्गल रूप है। रात्रि मे अशुभ पुद्गलो की प्रधानता होती है और दिन मे शुभ पुद्गलो की। दूसरे शब्दो मे कहा जा सकता है कि रात कार्य है और विशिष्ट पुद्गल उसके कारण है। जैसे आटा कारण और रोटी कार्य है।

यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि तब आटे को ही रोटी क्यो न कह दिया जाए ? मगर यह ठीक है कि आटे से ही रोटी बनती है और आटा ही रोटी का रूप धारण कर लेता है फिर भी सिर्फ आटा ही रोटी नही है। आटा रोटी का रूप तभी धारण करता है जब उसमे पानी मिलता है और दूसरे साधन उसे एक विशेप प्रकार का स्वरूप प्रदान करते है। अतएव अकेले आटे को रोटी नही कह सकते। इन वहिनो के कदोरे अणके और रणके वगैरह आभूषण सोने-चादी के बने है तो भी सोने-चादी को ही आभूपण नही कहा जा सकता। जब तक सोना-चादी अपने ही रूप मे है तब तक उसको आभूपण नही कह सकते। यद्यपि थोडे समय मे ही उस सोने-चादी मे आभूषण का रूप आ जाता है, फिर भी अभी तो उसमे वह रूप नही आ पाया है। सोने को सुनार, फूँकनी, हथौडा, सुहागा आदि साधन मिलते है तब वह आभूपण के रूप मे आता है। फिर वह सोना-चादी न कहला कर आभूपण कहलाने लगता है।

इसी प्रकार रात को जन्म देने वाले पुद्गलो को जब सूर्यास्त का साधन मिलता है तो वे रात्रि का निर्माण कर देते है और उस समय भी दिनजनक पुद्गल बने रहते है पर सर्योदय का जब निमित्त

पाते हैं तभी दिन का निर्माण करते हैं। इस प्रकार पुद्गलों का नाना विध परिणमन होता रहता है और यह रात्रि-दिन बाह्य जगत् में ही नहीं, आन्तरिक जगत् में भी होता रहता है।

आत्मा का राग, द्वेष, मोह से आवृत होकर मलीन हो जाना आत्मा की रात्रि है और जब यह विकार रूपी अन्धकार दूर हो जाता है और आत्मा के स्वाभाविक चैतन्य का चमत्कार प्रकट होता है तो वही आत्मा का दिन है।

रागादि दोषों को जीतना महापुरुष का ही काम है। या यों कह लीजिए कि जो इन दोषों को जीतता है, वही महा-पुरुष कहलाता है।

रागी पुरुष की दृष्टि इतनी विपर्यस्त हो जाती है कि वह सुखजनक पदार्थों को और दुःखजनक पदार्थों को सुख का साधन समझ लेता है और इसी कारण विपरीत प्रवृत्ति करता है। यही नहीं, रागातुर प्राणी राग में अन्धा होकर अपने प्राणों को भी खो बैठता है।

भ्रमर को पुष्प के सौरभ के प्रति कितना अनुराग होता है? वह उस अनुराग के पीछे अपने प्राणों को भी नष्ट कर देता है। कहा है—

भ्रमर कमल में जा फँसा, खुशबू की चाह में।
ता उम्र कैद आप वो बदकार हो गया॥

सज्जनो! सूर्यविकासी कमल सूर्यास्त के पश्चात् सिकुड़ जाता है और पुनः सूर्योदय होने पर ही मुस्कराहट के साथ खिलता है और चन्द्रविकासी कमल, जिसे कुमुद कहते हैं, चन्द्रमा का उदय

होने पर ही विकसित होता है और सूर्योदय होने पर सिकुड जाता है ।

तो इस दुनिया मे भी कई सूरजमुखी फूल है जो धर्मकथा होने पर, महापुरुषों की गुणावली का गान होने पर खिल उठते है और कई ऐसे चन्द्रमुखी फूल है जो महापुरुषो की कीर्ति, स्तुति और गुणावलि सुनते है तो उनके पेट मे दर्द होने लगता है और वे मुरझा जाते है।

जिन्हे गुणी जनो का गुणगान पसन्द नही है, समझना चाहिए कि उन्हे सूर्य पसन्द नही है, वल्कि अन्धकार प्रिय है। हाँ, जव पाप का प्रसग आएगा और निन्दा एव चुगली का समय आएगा वे फूल खिल उठते है। उनमे दबे हुए अरमान पूरे हो जाते है। मगर यह राई उन्हे वहुत महँगी पडेगी।

राग-द्वेष से अन्धा होकर मनुष्य ढूडता फिरता है कि कही दूसरो का कोई छिद्र मिल जाए तो मेरी मुराद पूरी हो जाय। वह गिरगिट की तरह रग वदलता है। कभी कुछ और कभी कुछ कहता है।

यदि कोई चित्रकार चित्र वनाना चाहता है तो साधन चाहिए। विना उपयुक्त साधनो के चित्र नही वनेगा। किसी का फोटो तभी कैमरे मे आ सकता है जव उसका अस्तित्व हो। अस्तित्व ही नही तो भले फोटोग्राफर के दादा और परदादा भी उठ-उठ कर चले आएं और पच-पच कर मर जाएँ और फोटो खीचते २ कैमरा फट जाय तो भी फोटो नही आएगा।

अरे वदनसीव! हतभागी! क्यो कैमरे की शक्ति को व्यर्थ नष्ट कर रहा है! ऐसा करते-करते कैमरा नष्ट हो जाएगा और

तेरी जिन्दगी ही खत्म हो जाएगी, किन्तु कारण के विना कार्य नही होगा। अरे, आटे के अभाव में रोटी कैसे बनेगी ? चाँदी-सोने के विना आभूषण किस प्रकार बन सकते है और लोहे के विना हथकड़ियाँ कैसे तैयार हो सकती है ?

निन्दक पुरुष ! तू कैमरा तो लिए फिरता है किन्तु जब सामने वाले में वह दुर्गुण ही नही है तो कैमरे मे कैसे आएगा ? जब भी देखेगा तो कैमरा खाली का खाली ही मिलेगा।

किन्तु क्या करे बेचारा आदत से लाचार है। ऐसा किये विना उसे चैन नही है।

जिन्हे फोटो खीचने का शौक होता वे भी खीचे विना नही रह सकते ! व्याख्यानवाचस्पति श्री मदनलाल जी महाराज देहली से जा रहे थे और मैं उन्हे विदाई देकर वापिस लौट रहा था। लाल किले के बाहर मैदान मे एक अंगरेज ने हमे देखा और शायद सोचा—यह तो नया ही नमूना है। वह मेरी ओर बारीक निगाह से देखने लगा। जब हम निकट पहुँच गए तो उसकी मेम ने कहा—हम तुम्हारा फोटो लेंगे। तब मैंने कहा—नही, हम फोटो नही देंगे।

सज्जनो, उन लोगो मे शिष्टता होती है, तो मैंने जब इन्कार कर दिया तो वे चल दिये। अगर हम खिचवाने को तैयार होते तो वे फोटो खींच लेते। किन्तु यदि हमारा अस्तित्व ही न होता तो उनके दिल मे हमारा फोटो खींचने की कल्पना ही न उठती। अभिप्राय यह है कि जो चीज सामने होती है उसी का फोटो आ सकता है।

तो जिस की जैसी भावना होती है, उस का वैसा ही कार्य बन जाता है।

याद रखिए, सूर्योदय होने पर वे पुद्गल चमक जाते हैं, प्रकाशित हो जाते है, उसी को दिन कहते है। इसी प्रकार मनुष्य के हृदय मे जो छिपी हुई शुभ भावनाएँ हैं, वे महापुरुषो के उपदेश रूपी सूय का उदय होने पर प्रकाशित हो उठती है। उनका हृदय ज्ञान-प्रकाश से आलोकित हो जाता है और वे दूसरो के जीवन को भी प्रकाशित कर देते है। मगर भाग्य के विना वह उपदेश रूपी प्रकाश भी प्राप्त नही होता। भाग्यहीन को दिया जाय तो भी वह ग्रहण नही करता।

लखनऊ के एक नवाव थे आसफुद्दौला। उन्हे अपने पिछले पुण्य कर्म के उदय से राज्य मिल गया। जहाँ उसे भोगोपभोग के पदार्थ मिले और खजाना मिला वहाँ वह उस पर सर्प बन कर रख-वाले के रूप मे नही बैठ गया, मगर खैरात बाटने और सम्पत्ति का सदुपयोग करने लगा। उसकी उदारता वढती ही चली जाती थी। वह हर समय मुक्त हस्त से फकीरो को देता ही रहता था।

एक समय एक फकीर घूमता हुआ उसके महल के पास से गुजरा। नवाव साहव की प्रशसा बहुत फैली हुई थी तो उसने भी खुशामद के शब्दो मे प्रशसा करते हुए कहा—'जिसे न दे खुदाताला उसे देवे आसफुद्दौला।'

नवाव ने यह पुकार मुनी तो सोचा—इसन तो मुझे खुदा से भी वडा वना दिया। यह वात उसे अच्छी नही लगी। वह झूठी मान वडाई सुन कर खुश होने वाला नही था। उसने समझ लिया कि यह फकीर लालच के कारण मेरी वडाई कर रहा है।

खुशामदी लोग अपना मतलव गाठने के लिए गधे को भी बाप वना लेते हे। मगर नवाव विवेकशील था। उसने ऐसा कहना

खुदा का अपमान करना समझा। फिर भी सोचा—आए हुए को तो देना ही चाहिए। यह सोच कर नवाब ने एक तरबूज मंगवाया और उसमे जवाहरात भर कर और उसे जैसा का तैसा करके फकीर को बुला कर दे दिया।

फकीर को तरबूज देख कर बहुत अफसोस हुआ। वह सोचने लगा—नवाब साहब का हृदय इतना उदार है फिर भी फकीर को तरबूज ही मिला। वह उदास मन से जा रहा था कि रास्ते मे एक आदमी मिला और बोला—फकीर साहब, तरबूज बेचोगे ?

फकीर—हाँ भाई, मुझे तो यह बेचना ही है।

आदमी ने फकीर को दो पैसे दे दिये। वह तरबूज लेकर अपने घर आ गया। फकीर ने दो पैसे के चने लेकर खा लिए। उधर उस आदमी ने तरबूज चीरा तो उसमे से मोहरे, हीरे, पन्ने आदि निकले। उन्हे देख कर उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। उसका लाभान्तराय टूटा, वह मालामाल हो गया।

वही फकीर दो-चार दिन बाद नवाब के महल के पास से फिर गुजरा तो बादशाह ने पूछा—फकीर साहब, कैसे हाल है ? तरबूज कैसा निकला ?

फकीर ने कहा—जहापनाह ! मैंने तरबूज चखा ही नही, दो पैसे मे बेच दिया था।

नवाब—साईं बाबा, तुमने गजब कर दिया। उसमे तो मोहरें और हीरे-पन्ने भरे हुए थे।

यह सुना तो फकीर की ऊपर की सास ऊपर और नीचे की नीचे रह गई। फिर उसने आह भर कर कहा—अब मैं उसे ढूँढूँ भी तो कहाँ ढूँढूँ ?

फकीर को अत्यन्त दु खी देख कर नवाव ने कहा—साई ! राई के भाव रात को ही चले गये। अब अफसोस करना वृथा है। तुमने सिद्धान्त ही गलत अख्तियार किया था। तुमने कहा था—जिसे खुदा भी नही देता है उसे नवाव देता है। यह कह कर तुम ने खुदा की तौहीन की। इससे खुदा की मेहरवानी की नास्ति हो जाती है। अब कहो तो ऐसा कहना—'जिसको नही दे खुदाताला, उसको नही दे आसफुद्दौला।' अर्थात् जिसको खुदाताला नही दे, भाग्य नही दे, पुण्य न दे, जिसने मिलने योग्य कर्म नही किये है, उसे आसफुद्दौला वादशाह भी नही दे सकता। उस भाग्यहीन को दुनिया मे कोई भी देने वाला नही है। देखो, तुम्हे खुदा ने नही दिया था उसे आसफुद्दौला भी नही दे सका और जिसको—तरबूज लेने वाले को खुदा ने दिया उसे आसफुद्दौला के न देने पर भी मिल गया। अर्थात् जिस के भाग्य मे है उसे उस वस्तु की प्राप्ति हो ही जाती है।

भद्र पुरुषो ! समय निकल जाता हे और वात रह जाती है। भाग्य छत फाड कर नही आने वाला है। वह दोनो के वाजार मे मिलता हे। दुखियो के दु ख दूर करने से मिलता है। गुणियो के गुणगान को दुनिया मे मिलता है। मगर इसको खरीदने के लिए राग, द्वेष और मोह का त्याग करना होगा। अभागे उस दुनिया मे नही जा सकते। अतएव मानव जीवन पा कर किसी की विगडी को वनाओ, वनी हुई को मत विगाड़ो। राग-द्वेप को दिल से निकाल फैको। ऐसा करने वाले ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
१७–१०–५६

रोगों की जड़

उपस्थित भद्र पुरुषो !

कल बतलाया गया था कि जीवात्मा इस ससार मे अनन्त काल से परिभ्रमण कर रही है। नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रही है और उन यातनाओ के कारण सतप्त हो रही है। उसे सुख नही मिल रहा है। वह अपने आनन्दस्वरूप से वचित हो रही है। उसे दुःखो से राहत नही मिल रही है।

पानी स्वभावत शीतल है, फिर भी अगर उसमें उष्णता आ गई है तो मानना पडेगा कि कोई बाह्य कारण अवश्य है जिसने जल की स्वाभाविक शीतलता मे उष्णता रूप विकार उत्पन्न कर दिया है। मानना पड़ेगा या तो उस पर अग्नि का प्रयोग किया गया है, या वह धूप मे रक्खा गया है जिससे सूर्य की गर्मी से उष्ण हो गया है, या बिजली के सयोग से गर्म हुआ है या जमीन मे अमुक तत्त्वो का सयोग पाकर गर्म हो गया है। कभी-कभी जमीन मे से ही गर्म पानी निकलता है। इसका कारण पृथ्वी मे मिले हुए गधक आदि पदार्थ है। तात्पर्य यह है कि पानी मे जो उष्णता आती है, उसका कोई न कोई बाह्य कारण ही होता है। अगर पानी मे स्वाभाविक गर्मी होती तो सभी जगह पानी गर्म ही होना चाहिए था।

तो जिस प्रकार निसर्ग शीतल जल परपदार्थ के सयोग से उष्ण बन जाता है, उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव से शीतल ही है, उसके स्वभाव मे कोई विकार नही है. किन्तु बाह्य निमित्त मिल

जाने से उसके स्वभाव मे विकृति-विरूपता आ गई है। कुछ अन्तरग और कुछ वहिरग कारणो से आत्मा मलीन, सतप्त और विकृत हो गई है। इसी से वह आत्मभाव को छोड कर अनात्मभावो में परिणत हो रही है।

नालायक वेटा, कलहकारिणी पत्नी या झगडाखोर पडौसी मिल जाय तो आये दिन झगडा मचा रहता है और आत्मा मे क्लेश का वाह्य कारण मिल जाता है। कपूत वेटा अपने अनाचार और दुराचार से हमेशा पिता को कष्ट पहुँचाता है। जब-जब पिता उसको आज्ञा देता है, तव-तब ही वह उसकी अवहेलना करता है और उसकी शरारत की कोई न कोई शिकायत पिता के पास पहुँचती रहती है। इस से भी पिता की आत्मा मे अशान्ति वनी रहती है।

इसी प्रकार कलहकारिणी पत्नी भी पति की आज्ञा का उल्लघन करके मनमाना आचरण करती है और क्षण भर शान्ति नही लेने देती। पुरुष का कार्यक्षेत्र घर से वाहर है। जब वह बाहर रहता है तो व्यस्त रहता है। घर पर ही उसे शान्ति मिल सकती है। अगर घर मे आते ही पत्नी परेशान करने लगे तो वह शान्ति कहाँ पाएगा ? यही वात पति के सबध मे भी कही जा सकती है। पति अगर कुराह पर चलता है और पत्नी के समझाने पर भी नही मानता तो पत्नी के लिए अशान्ति का कारण वन जाता है। जो पुरुष शरावी है, जुआरी है, वेश्यागामी है और अपनी कमाई को दुराचार मे फूक देता है, घर मे खाने-पीने का सामान नही, वच्चे भूख से विलख रहे है, पढाई और दवाई का साधन नही है, फिर भी वह परवाह नही करता और दुराचार के पोपण मे ही पैसा वर्वाद कर देता है, वह पति पत्नी के दु ख का कारण वन जाता है।

कोई पड़ौसी कलहखोर है तो बात-बात पर उससे झगड़ा मचा रहता है। सड़ी-गली मामूली बातों पर भी कभी-कभी जंग छिड़ जाता है।

तो मनुष्य में थोड़ा विवेक होना चाहिए, जिससे क्लेश न हो। अगर हम अच्छे हैं तो सारी दुनिया हमारे लिए अच्छी होगी। मनुष्य जब भूल करता है तो दूसरों को उसकी ओर उंगली उठाने का अवसर मिल जाता है। यदि मनुष्य अपने मन को नियंत्रण में रक्खे, अपने विचारों को उदार और उन्नत बना ले तो झगड़ा होने के द्वार बन्द हो जाते हैं। एक आदमी कहता है—देखो जी, ऐसा मत करो। और दूसरा आदमी मान जाता है अथवा शान्ति के साथ अपना दृष्टिकोण उसे समझाता है तो झगड़े का कारण उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य जब भूल पर भूल करता जाता है और कहने पर भी नहीं मानता है तभी क्लेश और कलह होता है। नानक जी कहते हैं—

> एक ने कही दूसरे ने मानी,
> कहे नानक वे दोनों ज्ञानी।

किन्तु जब एक का कहना दूसरा नहीं मानता तो तनाव बढ़ता है और ऐसी जगह दोनों अज्ञानी की कोटि में आ जाते हैं। जो मनुष्य हठी है और जिद्दी है, उसे छेड़ा जाय तो वह बन्दर की तरह ज्यादा-ज्यादा कूदता है। उसे न छेड़ने में ही अक्लमन्दी है और उसका सामना न करना ही बुद्धिमत्ता है।

सीख उसी को देनी चाहिए जो माने। जो सीख देने पर उलटा गले पड़ता हो, उसे सीख न देना ही अच्छा है। वहाँ मनुष्य को संयम कर लेना ही उचित है।

सीख वा को दीजिए, जाको सीख सुहाय ।
सीख बादरा को दिये, घर बया का जाय ।

बेचारी बया ने पानी मे भीगते हुए और सर्दी से ठिठुरते हुए बदर को शिक्षा दी कि अपने बचाव के लिए कोई स्थान क्यो नही वना लेते जिससे वर्षा और सर्दी मे यह कष्ट न उठाना पडे, तो बदर ने गुस्से मे आकर या चिढ कर बया का घौसला ही तोड़ कर फैंक दिया ।

तो यह जो रगडे-झगडे और कलह होते है, इनके मूल मे प्राय विवेकहीन वचन ही कारणभूत होते है। सुख का मूल मन्त्र विवेक है और दुख का मूल मन्त्र अविवेक है । जो व्यक्ति खाने-पीने उठने-बैठने, चलने-फिरने आदि क्रियाओ मे विवेक युक्त रहता है, वह कही भी स्खलित नही होता—खता नही खाता । मगर जो इन सब क्रियाओ मे विवेक नही रखता वह अवश्य अपमानित होता है और नुकसान उठाता है ।

समय पर वही बात सुखदायी भी हो जाती है और दु खदायी भी हो जाती है । शादी के समय औरते अपने समधी को गालियाँ गाती है और विवाह के लिए आने वाले लडके को ढेड-चमार तक वना देती है, मगर रगविनोद के समय वे गालियाँ भी प्रिय लगती है । वही गालियाँ किसी दूसरे समय दूसरे को दी जाएँ तो सिर-फुटौवल तक की नौवत आ जाती है । कहावत प्रसिद्ध है—

नीकी भी फीकी लगे, विन अवसर की बात ।

वेमौके कही गई मीठी वात भी फीकी लगती है । फीकी ही नही वल्कि कडवी भी तो यह निश्चित है कि जहाँ विवेक है वहाँ

सुख है, और जहाँ विवेकशून्यता है वहाँ दुःख तैयार है। अतएव जो भी कार्य करना चाहे, उसे आरम्भ करने से पहले उसके परिणाम का विचार कर ले। कहा भी है—

सोच करे सो सूरमा, कर सोचे सो कूर।
उसके सिर पर फूल है, उसके सिर पर धूल।

जो पहले काम कर डालता है और बाद मे विचार करता है, वह अवश्य खता खाता है। मगर जो किसी भी कार्य के भले-बुरे परिणाम का विचार कर लेता है और उसके बाद ही कार्य आरम्भ करता है, वह शूरवीर कहलाता है। उसके सिर पर यश और विवेकशीलता के फूल चढते है अर्थात् लोग उसकी शोभा करते है। तो सोच समझ कर विवेकपूर्वक किये गये कार्य का परिणाम श्रेष्ठ निकलता है और उस कामयाबी मे लोग उसके सिर पर फूल बरसाते है, उसकी प्रशंसा करते है, मगर जो अच्छे-बुरे परिणाम का विचार किये बिना ही कुएँ मे छलाँग मार देता है, उसका सिर फूट जाता है और हड्डियाँ टूट जाती है। यो तो कुएँ मे कोई चीज़ गिर जाने पर निकालने के लिए लोग उसमे भी जाते है, मगर जाते वही है जिनमे योग्यता होती है और चीज भी ले आते है तथा स्वयं भी सही-सलामत लौट सकते है।

हाँ तो जिस प्रकार पानी मे बाह्य कारणो से उष्णता आ जाती है, उसी प्रकार आत्मा मे भी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग द्वेष, विषयविकार आदि विकृति आई हुई है। वस्तुतः ये आत्मा के स्वरूप नही है। ये कर्मोदय के फल है। अपने स्वभाव से तो आत्मा शुद्ध, बुद्ध और अनन्त चेतना शक्ति से समृद्ध है। आत्मा के सच्चे साथी तो उसके ज्ञान और दर्शन है और वे इह-परलोक मे साथ रहते है। वे ही आत्मा की असली निधि है।

शास्त्रकार वतलाते है कि आत्मा मे विकार आने के भी दो कारण है—वाह्य और अन्तरग। कुछ तो माता, पिता, भाई, वहिन स्त्री, पुत्र, मित्र, पडौसी आदि के कुसयोग मिल गये जो वाह्य-दृष्टि से सताप के कारण वन गये। दूसरा अन्तरग कारण अपने आपमे विद्यमान रहता है। वाह्य कारण न होने पर भी भीतर छिपी हुई कषायवासना जव उभर आती है तव भाई-वीरा आदि मीठे वोलो से वुलाने पर भी वह कहता है—'रहने दो अपनी चापलूसी की वाते! मै तुम्हे अच्छी तरह जानता हूँ।

और ज्यादा कहो तो झगडा करने को तैयार। कषाय चार प्रकार से प्रकट होते है—अज्ञान मे, परनिमित्त से, दोनो के कारण से, या निष्प्रयोजन ही। भीतर जो शैतान वैठा था, शिकारी वैठा था, उदयभाव का अवसर देख कर फोरन गोलो दाग देता है। अर्थात् सत्ता मे जो कर्म मौजूद थे, वे विना किसी के कुछ कहे-सुने ही उदय मे आ जाते है और अपना प्रभाव दिखलाते है। जव कषायमोहनीय कर्म उदय मे आता है तो व्यक्ति कपाय वश खाना-पोना छोड देता है और गल-गल कर मर जाता है। वाहर का कोई कारण न होने पर भी अदर के कारण से ही यह हाल हो जाता है। जो मिट्टी मे गधक आदि के गर्म पुद्गल होते है, वे ही पानी को गर्म कर देते है। इसी प्रकार कपाये अन्दर मे ही आत्मा मे पलीता लगा देती है और फिर एकदम विस्फोट हो जाता है।

तो जीव ने जो कर्म वॉध लिये है, समझो कि उसने एटमवम तैयार कर लिया है और उसमे विपमता के परमाणु—काच शीशा वगैरह भर दिये है। जव निमित्त और समय मिलेगा तो विस्फोट हो जायगा। उस समय प्रकृति को सँभालते-सँभालते भी वे वाहर आ जाते है और आत्मा को दूपित कर देते है।

तो यह आत्मा तो निसर्गत आनन्दमय ही है, परन्तु विरोधी तत्त्वो ने इसको विकृत बना दिया है। अतएव मानना ही पडता है कि आत्मा मे जो विकार है और दु खो की जो विडम्बना भोगनी पडती है उसका कोई बाहरी कारण ही है। जब विना कारण पानी गर्म नही होता तो आत्मा मे विकृति भी विना कारण नही आ सकती। ज्ञानी पुरुषो ने उस कारण को भी खोज कर निर्णय दिया है कि यह जो दु खो की परम्परा चली आ रही है उसे सप्लाई करने वाला—आगे से आगे वेग देने वाला कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए और वह त्रिरूप कारण है—राग द्वेष और मिथ्यात्व।

शरीरशास्त्रियो ने शारीरिक व्याधियो के मूल कारण तीन माने है—वात, पित्त और कफ। इन तीन की विषमता ही विविध प्रकार की शारीरिक व्याधियो की जनक है। इन तीन मे से वात अर्थात् वायु चौरासी प्रकार की है। उन मे से किसी वायु मे किसी रोग को उत्पन्न करने का स्वभाव है और किसी मे कोई रोग उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् के आत्मचिकित्सको ने भी मूल रूप से उक्त तीन दोषो को ही नाना प्रकार की आत्मिक व्याधियो का कारण माना है। जैसे शरीर सम्बन्धी वात विकार मे ८४ प्रकार के रोग है तो आत्मा के भी दुखी होने के ८४ लाख प्रकार है। चौरासी लाख जीव योनियो मे यह आत्मा कष्ट पाता है। ये चौरासी लाख जीवयोनियाँ आत्मा के विकार ही है।

सज्जनो! जब शरीर मे एक वातव्याधि, जिसे गठिया वात कहते है, उत्पन्न हो जाती है तो शरीर का हलन-चलन भी बन्द हो जाता है और वह शरीर के जोड-जोड को बन्द कर देता है। दूसरे

प्रकार का वात वह है कि जिससे पेट मे गोला उठता है। जब पेट मे वायु विशेष रूप से जमा हो जाती है तो वह गोला उठता है और उससे इतनी तीव्र वेदना होती है कि खाना-पीना भी बन्द हो जाता है। मनुष्य मछली की तरह तडफने लगता है। तो जैसे चौरासी प्रकार की वायु है, उसी प्रकार पित्त और कफ के भी वैद्यो ने अलग-अलग अनेक भेद बतलाये है, जो आयुर्वेद से जाने जा सकते हैं।

तो मै कह रहा था कि जैसे शरीर की बीमारियो के मूलत तीन कारण है, इसी प्रकार आत्मा की समस्त बीमारियो के भी रागादि उपरोक्त तीन ही कारण है।

वैद्यो ने शारीरिक बीमारियो के कारण तो खोज निकाले किन्तु उन्हे आत्मा की बीमारो के आन्तरिक कारण नजर नही आये। बाहरी बीमारी के कारणो को खोज निकालना कठिन नही है जब कि अन्दर के कारणो को ढूड निकालना बहुत मुश्किल है। मगर हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र के जो सफल चिकित्सक थे, उनकी लोकोत्तर दृष्टि से बाहर के कारण और अन्दर के कारण भी छिपे न रहे। आज बाहर का रोग तो आँखो से देख लिया जाता है किन्तु अन्दर फेफडो मे, हड्डियो मे, या आन्तो मे रसी पड़ गई हो या तपैदिक के कीटाणु लग गये हो तो वे बाहर से नजर नही आते। आज के वैज्ञानिको ने अपने बुद्धिबल के द्वारा ऐसे साधन तलाश कर लिये है, जिन से शरीर के अन्दर को भी बहुत-सी बाते देखी जा सकती है। वे उन बातो को एक्स-रे के द्वारा फोटो लेकर देखते है। सम्भव है उसमे भी कोई त्रुटि रह जाय, कोई भूल हो जाय।

मगर हमारे जो अतिशय अद्वितीय निष्णात डाक्टर थे, वे अपने अनन्त ज्ञान और दर्शन से न केवल बाह्य चीजो को अपितु

अन्तरतर की भी चीजो को पूरी तरह देखते थे। उनकी दिव्य दृष्टि से वाहर के रोगो के कारण भी छिपे हुए नही थे और अन्दर के रोगो के कारण भी छिपे नही थे। क्योकि वे डाक्टर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। उनके सम्पूर्ण ज्ञान मे वाहर कोई चीज नही रही।

श्रीमद् ठाणाग सूत्र मे भगवान महावीर ने बतलाया है कि नौ कारणो से शारीरिक रोगो की उत्पत्ति होती है तो ज्ञानियो से बाह्य रोगो के कारण छिपे हुए नही थे। अन्दरूनी आत्मिक बीमारी के तीन मूल कारण तो बतला ही दिये है। तो हमारे वे डाक्टर बडे ही सफल डाक्टर थे। असाध्य से असाध्य रोग वाला, पापी से पापी भी उनकी शरण मे चला जाता और उनकी दवा ले लेता तो वह पापो से रोगो से, कर्मबीमारी से मुक्त हो जाता था। इस प्रकार एक नही अनन्त-अनन्त रोगियो को, जो अनन्त काल से जन्म-मरण के रोग से पीडित व्यक्ति थे नीरोग कर दिया। नीरोग भी ऐसे कि वे फिर मुड कर कभी रोग की चिकित्सा कराने के लिए न आये, बल्कि अजर-अमर बन गए।

आज तो अधिकाशत ऐसे डाक्टर है जो रोगी से पूछ कर दवा तो दे देते है, पर उनके चले जाने पर फिर बुलाना पडता है। मगर हमारे डाक्टर एक बार मे ही रोग को जड से उखाड देते थे। आज के इन डाक्टरो को भीतर की बीमारी का पता ही नही है कि रोगो की जड कहाँ है उनका निदान क्या है? असातावेदनीय कर्म के पुद्गलो को, जो इस जीव को दुख दे रहे है, यदि कोई पूरी तरह देख सकता है तो वे केवलज्ञानी ही है। वही उनका अचूक इलाज कर सकते है। छद्मस्थ उन्हे नही देख सकता। वे कर्मपुद्गल खुर्दबीन या दुरबीन किसी मशीन से भी नजर आने वाले नही है।

क्योकि मशीन आठस्पर्शी है अर्थात् बहुत स्थूल है। आज का सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्र भी आठस्पर्शी है, जब कि वेदनीय कर्म के पुद्गल चौस्पर्शी है, जो अत्यन्त सूक्ष्म है। चौस्पर्शी पुद्गल आठस्पर्शी यन्त्र के द्वारा दृष्टिगोचर नही हो सकते। उन्हे देखने का एक मात्र साधन दिव्य चक्षु है, दिव्य ज्ञानी ही उन्हे देख सकता है।

ज्ञानी पुरुषो ने यह भी बतला दिया है कि असातावेदनीय या सातावेदनीय कर्मो के पुद्गल किस प्रकार आत्मा के साथ सबधित हुए है ? आखिर कारण के विना कार्य की उत्पत्ति नही होती। तो असातावेदनीय कर्म के आत्मा के साथ बद्ध होने का कारण शास्त्रकारो के इस प्रकार वतलाया है—

'पाणाण भूयाण जीवाण सत्ताण दुक्खणयाए, सोयणयाए, झूरणयाए, तिप्पणयाए, पिट्टणयाए, परितावणयाए।'

यहाँ वतलाया है कि कौन आत्मा कैसे कैसे बुरे कारनामे कर के उन असातावेदनीय रूप, दुःख देने वाले अशुभ पुद्गलो को खीचती है ? कर्म यो ही आकर आत्मा मे नही चिपक जाते। उन्हे खीचने वाला जीव अपनी क्रियाओ के द्वारा, वल-वीर्य के द्वारा खीचता है।

पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय-बल, आयु और श्वासोच्छ्वास, इन दस प्राणो पर जीवन का खेल निर्भर है। इनकी विद्यमानता जीवन है और इनके अभाव मे जीवन का भी अभाव हो जाता है।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, ये सब जीव ही हैं, पर विशेष रूप मे चार प्रकार के स्थावरो को सत्त्व सज्ञा दी है, वनस्पतिकाय

को भूत संज्ञा प्रदान की गई है, द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय जीवो को प्राणी संज्ञा दी गई है और पचेन्द्रियो को जीव शब्द से कहा गया है।

सामान्यतया विचार किया जाए तो सभी जीव भूत हैं, क्योकि वे भूतादि तीनो कालो मे विद्यमान रहते हैं। जीव का न आदि है, न अन्त है। जीव जीवभाव से कभी मरता नही, सदा जीवित रहता है। श्री भगवतीसूत्र मे प्रश्न किया गया है—

प्रश्न—जीवे ण भंते ! कालओ केवच्चिर होइ ?

उत्तर—गोयमा ! सव्वद्धा।

यहाँ गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया था—भगवन् ! जीव जीव रूप से कितने समय तक रहता है ? भगवान् ने उत्तर मे कहा—सर्व काल मे। जीव सदैव जीव रूप मे ही रहता है। जीव कभी भी अजीव होने वाला नही वह किसी भी योनी को प्राप्त क्यो न हो जीव से अजीव नही होगा।

यह सिद्धान्त की प्ररूपणा है। इसे ठीक समझे बिना ज्ञान नही होता। मगर आप लोगो को जितनी सैद्धान्तिक जानकारी होनी चाहिए थी, नही हो सकी है। इसे प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील होना चाहिए। प्रथम तो आपने ही इस ओर ध्यान नही दिया, फिर सुनाने वाले भी राजा-रानी की कहानी कह कर आपको खुश करते रहे। इसी से आपकी ऐसी आदत हो रही है कि शास्त्रीय विषय आपको नीरस प्रतीत होता है और उसे छेडा जाय तो नीद आने लगती है। मैं चाहता हूँ कि आपकी रुचि का परिष्कार हो, इस मे सुधार हो और शास्त्रीय विषय आपको रुचिकर लगने लगे।

तो प्राणो वही है जो प्राणो को धारण करता है। प्राणो को धारण करने वाला प्राणी अर्थात् जीव, जीव रूप से कितने काल तक रहता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है—'सव्वद्धा।' अर्थात् जीव सदा-सर्वदा रहने वाला है। चाहे यह किसी भी पर्याय मे हो, नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देव अथवा मोक्ष मे भी चला जाय, मगर जीव जीव ही रहेगा। वह जीवत्त्व भाव का परित्याग करके अजीव नही वन सकता।

किसी-किसी सम्प्रदाय की मान्यता है कि जीव जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है, निर्वाण पद की प्राप्ति करता है, तो उसका आत्मभाव भी मिट जाता है। उसकी अपनी कोई सत्ता नही रह जाती। जैसे दीपक जलते-जलते बुझ जाता है, उसी प्रकार आत्मा का बुझ जाना, सत्ता से शून्य हो जाना ही निर्वाण है। किन्तु सज्जनो ! मोक्ष प्राप्त होने पर यदि आत्मा का अस्तित्व ही मिट जाता हो तो यह सौदा तो वडा महँगा है। मोक्ष प्राप्त करने के के लिए कितनी कठोर साधना करनी पडती है ? घोर तपश्चरण, यम-नियमो का पालन आदि जो किया जाता है, सो क्या अपनी सत्ता को निर्मूल करने के लिए ही ? जब मोक्ष के सुख का आस्वादन करने वाली आत्मा ही मिट गई तो उसका आस्वादन कौन करेगा ? तमाशा तो वही देखता है और वही उसका आनन्द लूटता है जो जीवित रहता है। यदि तमाशा देखने वाला ही मर जाए तो फिर तमाशा देखेगा ही कौन ? कहावत है—"आप मरा तो जग प्रलय।"

वुद्धधर्म मे सभी पदार्थ क्षणिक है, आत्मा भी क्षणिक है। प्रत्येक समय मे वह नवीन उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है।

उत्पाद और विनाश का यह प्रक्रम अनादि से चल रहा है। जहाँ उस प्रक्रिया का अन्त आया, अर्थात् विनाश के पश्चात् नया उत्पाद न हुआ तो बस वही निर्वाण कहलाने लगा। लेकिन भद्र पुरुषो! जब आत्मा की अगले क्षण मे उत्पत्ति न हुई और पहले क्षण का विनाश हो गया तो मोक्ष किसका हुआ? जब रोगी ही मर गया तो स्वास्थ्य लाभ किसे हुआ? जब सुख का भोक्ता ही न रहा तो सुख होगा किसको? बडी विचित्र कल्पना है!

जैन सिद्धान्त की मान्यता ऐसी नही है। जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्मो का, विकारो का, बन्धनो का नाश होता है, किन्तु आत्मा का तो पूर्ण विकास ही होता है। कर्म रूप उपाधि के कारण आत्मा के जो स्वाभाविक गुण विकास नही पा रहे है, वे सब मुक्तावस्था मे विकसित हो जाते है, क्योकि उस अवस्था मे आत्मा सब प्रकार की उपाधियो से मुक्त हो जाती है।

जब राग-द्वेष आदि विकारो का विकास होता है तो आत्मिक गुणो का ह्रास होता है और जब उनका ह्रास होता है तो आत्मगुण विकसित होते है। खेत मे घास-फूस जितना अधिक उगेगा, खेती उतनी ही कम बढेगी और घास-फूस की जितनी कमी होगी, पैदावार उतनी ही अधिक बढेगी। यही कारण है कि खेत को उपजाऊ बनाने के लिए किसान निदाण करता है। वह कचरे को घास-फूस को उखाड कर फेंक देता है। घास-फूस के साथ अगर वह सभी का निदाण कर दे तो खेत मे से क्या पायेगा? इसी प्रकार साधक आत्मा रूपी खेत मे उगे हुए राग-द्वेष आदि के कचरे का उन्मूलन करता है। इस उन्मूलन के साथ यदि वह आत्मा रूपी धान्य को भी उखाड फेंके तो क्या पाएगा? आत्मा का नाश होने पर शेष

क्या रह जाएगा ? मोक्ष का सुख किसे मिलेगा ? उस मोक्ष से लाभ क्या होगा ?

मामूली किसान भी इस बात को भली-भाँति समझता है कि सव का निदाण हो जाएगा तो प्रलय हो जाएगा। तो जहाँ मोक्ष पाने चले कि अपने आप को ही गँवा बैठे, यह क्या सिद्धि हुई ! काटना है आत्मा के विरोधी तत्वो को, घास-फूस को, न कि फसल को काट फैकना चाहिए।

तो यह आत्मा का मोक्ष नही है। यह आत्मा का विकास नही, विनाश है। जव आत्मा का ही अभाव हो गया तो मोक्ष का आनन्द लेने वाला कोई रह ही नही जाता।

यह सब बाते सावधानी के साथ विचारने और मनन करने योग्य है। किन्तु जो लोग मतान्ध होते है, मत मे दीवाने और पागल वन जाते है, वे अपनी पकडी हुई बात को छोडने के लिए तैयार नही होते। मूर्ख गधे की पूछ पकड लेता है और गधा उसे दुलत्ती लगाता है, उससे उसके नाक, मुँह और हाड-हाड टूट जाते है, फिर भी वह पकडी पूछ को नही छोडता। इसी प्रकार विभिन्न मतो के प्रवर्तक जो भी अच्छी या बुरी बाते अपने अनुयाइयो के हृदय मे घुसा देते है, वे उन्हे छोडने को तैयार नही होते। अच्छी बाते तो भला नही छोडनी चाहिए, किन्तु वहुत वार लोग अपनी मान्यता की त्रुटियो को समझ कर भी उसे नही वदलते।

मगर इस विषय मे मनुष्य को व्यापारी जेसी वृत्ति रखनी चाहिए। व्यापारी वही से माल खरीदता है, जहाँ उसे अच्छा और पडते का माल मिलता है। वह किसी एक दुकान से वधा नही

होता। इसी प्रकार हमे चाहिए कि जहाँ से भी सत्य की प्राप्ति हो, उसे ग्रहण कर ले और उस से लाभ उठा ले।

तो यद्यपि चेतना और ज्ञान आत्मा के स्वरूप है और वे आत्मा की ही भाँति शाश्वत है, तथापि कई लोगो की मान्यता है कि जब तक चेतना और ज्ञान है तब तक आत्मा निर्वाण नही प्राप्त कर सकती।

ऐसी ही मान्यता वालो मे एक अज्ञानवादी सम्प्रदाय है। उसके मन्तव्य के अनुसार ज्ञान ही बन्ध और दुःख का कारण है और ज्ञान का समूल नाश हो जाना ही निर्वाण है। वे अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए एक उदाहरण देते हैं। वह इस प्रकार है—

मान लीजिए एक दुधमुंहा बच्चा है। वह सोने-चाँदी का नुकसान कर देता है तो भी दुःखी नही होता, क्योंकि उसे सोने-चाँदी के महत्त्व एव मूल्य का ज्ञान नही है। किन्तु कदाचित् उसे माता से जुदा कर दिया जाए तो दुःख होता है, क्योंकि उसे दूध पाने का ज्ञान है। इससे स्पष्ट है कि दुःख का कारण ज्ञान और दुःख से बचने का कारण अज्ञान है।

ज्यो-ज्यो बालक का ज्ञान बढता जाता है और वह समझने लगता है कि यह मेरा भाई है, बहिन है, आदि-आदि, त्यो-त्यो उस का दुःख बढता ही जाता है।

इस प्रकार जब ज्ञान की न्यूनता मे दुःख की न्यूनता प्रत्यक्ष देखी जाती है तो सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ज्ञान का पूर्णरूपेण नाश होने पर दुःख का भी पूरी तरह नाश हो जाता है।

जव चेतना हो न होगी तो दु ख या वेदना भी न होगी और निर्वाण की प्राप्ति हो जाएगी।

हमारा मन्तव्य इससे विल्कुल विपरीत है। जैन शास्त्रो का कथन हे कि ज्ञान का न होना ही दु ख है और ज्ञान का होना ही सुख है। ज्ञान से दु ख की उत्पत्ति वतलाना वास्तव मे ज्ञान की परिभाषा को न समझने का परिणाम है। ज्ञान को दुनिया ही दूसरो है और जब तक उस दुनिया से परिचय नही हुआ है तभी तक उसे दु खजनक समझा जाता हे।

सच्चा ज्ञान वह है जो आत्मा मे समभाव की जागृति करता है और मोह को हटाता है। ज्ञान की जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है, माह भो वेसे हो वेसे हटता जाता है। जिन्हे वास्तविक विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हो गया उन्होने भयकर से भयकर यातनाओ मे भी दु ख अनुभव नही किया, मुँह से एक वार उफ भी नही निकाल। इतिहास साक्षी है कि उनके सिर पर पोल वना कर दहकते हुए अगार रख दिये गये गन्ने की नाई घानी मे पीस दिया गया, शरीर की खाल उतार ली गई, पॉवो पर खीर पका ली, कानो मे कीले ठोक दी गई, फिर भी वे ज्ञानी पुरुष अपने आत्मानन्द मे ही मगन रहे। विपदाओ के वज्रप्रहार भी उन्हे विचलित नही कर सके।

प्रश्न उपस्थित होता है—यह शक्ति और यह सहन-शीलता उन्हे किसने प्रदान की ? ज्ञान की ही अमोघ शक्ति से वे दिल को थर्रा देने वाली यातना को समभाव से सहन कर सके। अगर अज्ञानी होते तो वे रो-रो कर मरते और अपने ध्येय मे सफलता न प्राप्त कर सकते।

तो मैं कह रहा था कि आत्मा चार गति मे रहे या पाँचवी गति मोक्ष मे चला जाय, वह अजीव नही बन सकता, यह ध्रुव सत्य है। यही शुद्ध धर्म की विशेषता है।

जैन धर्म ने आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था की प्राप्ति को मोक्ष माना है। मोक्ष मे आत्मा का शुद्ध अस्तित्व रहता है। अगर अस्तित्व मिट जाता होता तो ऐसे मोक्ष के लिए कौन बुद्धिमान् प्रयत्न करता ?

सासारिक अवस्था मे हमारी आत्मा कार्मणवर्गणा से घिरी रहती है। असातावेदनीय का जहर का प्याला उस कर्मवर्गणा का ही फल है। मगर उस प्याले को किसने दिया ? किसने उडेला है ? सज्जनो ! उत्तर मे कहना होगा कि विष के उस प्याले को हमने ही अमृत समझ कर पिया है और जब पी लिया तो वह अपना असर अवश्य दिखलायेगा। शिकारी शिकार खेलता है, चोर चोरी करता है, कसाई हिंसा करता है, तब वह समझता है कि मै अमृत का प्याला पी रहा हूँ। मगर याद रक्खो, अमृत मान लेने मात्र से विष अमृत नही बन जायगा। विष हर हालत मे विष ही रहेगा।

तो हमारी आत्मा मे दुःख देने वाली जो कर्मवर्गणा पड़ी है, वही एक प्रकार की बीमारी—भीतरी बीमारी है और उसे हमारे सफल डाक्टरो ने पूरी तरह समझ लिया था। इसी से उन्होंने अन्दर और बाहर के कारणो को स्पष्ट रूप से बतला दिया है। वे दुःख देने वाले कर्म कैसे आये ?

जिन्होने दूसरो को रुलाया है उन्हे रोना पडेगा। जिन्होने दूसरो को तरसाया है उन्हे कलपना पडेगा। जैसे-जैसे कर्म किये

है, उन्हे उसी प्रकार से भोगना पडेगा। दूसरो को जो सामान्य या विशेष रूप से दुख देता है, उसे असातावेदनीय कर्म का वध होता है और समय पाकर उसका उदय दुख रूप होता है।

तो ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि जेसे आयुर्वेदविशारदो ने सव रोगो के मूल कारण तीन माने हे—वात, पित्त और कफ, उसी प्रकार आत्मा के सव रोगा के भी तीन हो कारण हे—राग, द्वेप और मिथ्यात्व। इन्ही कारणो से जीव ससार मे दुख पा रहा है। जव तक ये तीनो दोष नष्ट नही हो जाते, तव तक आत्मा को शान्ति नही मिल सकती। मगर प्रथम तो इस राग का छूटना ही कठिन हो रहा है। इसमे मनुष्य हो नही, देवता भी उलझ रहे है। ससार मे सर्वत्र राग का जाल फैला है। कामराग और भी प्रवल है। कैसी भयानक विडम्वना है इसकी !

एक गाँव मे दो कुत्ते अलग-अलग मुहल्लो मे रहते थे। अपने-अपने मुहल्ले की रखवाली करना उनका सहज भाव था। यो भी कुत्ता अत्यन्त स्वामीभक्त होता है। एक टुकडा दे देने वाले के प्रति भी वह वफादार रहता है। जब कि मनुष्य कई वर्षो तक मालिक का अन्न-पानी खाने पर भी, समय पर लोभ मे आकर अथवा 'इस्लाम खतरे मे है' ऐसा नारा सुन कर, बुढापे की हालत मे भी, अपने स्वामी को मौत के घाट उतारने मे सकोच नही करता। उसका कर्त्तव्य तो यह है कि अपनी जान हथेली पर रख कर भी वह अपने शुभ चितक स्वामी की रक्षा करे, मगर वह इतना कृतघ्न हो जाता है कि उसके प्राण ले लेता है।

तो वे दोनो कुत्ते वफादारी के साथ अपने-अपने मुहल्ले की चोरो वगैरह से रक्षा करते थे। उनमे सब से वडा दुर्गुण यदि था तो

यह कि उनका कोई सजातीय कुत्ता आ जाता तो उसे घुर्रा कर और लड़ झगड कर वे फौरन निकाल देते थे। वे समझते थे कि यदि यह यहाँ रह गया तो मेरी प्राप्ति मे हिस्सा बँटा लेगा।

खैर, कुत्तो का स्वजाति द्वेष तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु सज्जनो! अफसोस तो इस बात का है कि यह बीमारी, यह दुर्गुण मनुष्य मे भी बहुतायत से पाया जाता है। मनुष्य अपनी कमाई के राज, कला के राज, विद्या के राज, भी दूसरो को नही बतलाना चाहता। वह इस प्रकार की पत्रव्यवहार आदि सामग्री को बडी सँभाल के साथ तिजोरी मे रखता है, ताकि दूसरे व्यापारी को माल मगाने का पता और भाव वगैरह का पता न चल जाय, अन्यथा मेरी कमाई का साधन खतरे मे पड जायगा। जब बाहर माल लने जाता है तो बडे गुप्त रूप मे जाता है और यहाँ तक की पैरो की आहट की सभावना हो तो जूते भी हाथ मे ले लेता है। परन्तु किसी को मालूम नही होने देता।

एक जगह दो भाई रहते थे। दोनो सराफी का व्यापार करते थे। एक दिन एक भाई ने जल्दी उठ कर बाहर से माल लाने के लिए राजमार्ग छोड कर सीधा खेतो का रास्ता लिया, यह सोच कर कि कोई मुझे देख न ले। पर रास्ते मे किसी ने पूछ ही लिया—कहाँ जा रहे हो? उसने असलियत छिपा कर कहा—एक गाँव मे मौत हो गई है। वहाँ बैठने के लिए जा रहा हूँ।

सज्जनो! इस लोभ के कारण मनुष्य को कितना झूठ बोलना पडता है! कितना जाल रचना पडता है और कितना धोखा देना पडता है!

वह सोचता था कि किसी को मेरे माल लाने का पता चल गया तो दूसरा भी कोई माल लेने पहुँच जायगा और मेरा विक्री मे बाधा पड जायगी। मेरी कमाई मारी जायगी। अतएव उसे न बोलने योग्य झूठ का सहारा लेना पडा। किन्तु अरे क्षुद्र हृदय! जहाँ दो दुकानदार होते है, वहाँ दोनो कमाते है। बम्बई, दिल्ली जैसे नगरो मे हजारो लाखो दुकानदार है सभी अपने-अपने भाग्य के अनुसार कमाते-खाते है। आखिर तो सब भाग्य अपने-अपने साथ है। कौन किसका भाग्य बदल सकता है? किन्तु क्या किया जाय? आदत से लाचार जो है। इसी कारण तो यह श्वानवृत्ति दु खी कर रही है।

ससार मे पदार्थों की कमी नही है, किन्तु ऐ मनुष्य, तेरे सन्तोष की कमी है। अगर सन्तोप के साथ पदार्थो का भोगोपभोग किया जाय तो ससार मे कोई भी भूखा, नगा और बेघरवार नही रह सकता। मगर सन्तोष हो तभी तो यह बात बने।

तो उन दोनो कुत्तो मे एक वडा मोटा-ताजा था। वह अपनी हिम्मत से और बल से दूसरे कुत्तो से लड-झगड कर और हिस्सा बँटा कर अपनी पोल मे आ जाता था। दूसरा दुवला-पतला और कमजोर होने से अपना ही पोल मे पड़ा रहता और बाहर कही नही जाता था। उसे मुहल्ला वाला कोई टुकडा दे देता और कोई नही भी देता था।

तो मोटा ताजा मस्त हो गया और दूसरा सूखा हुआ रह गया। एक दिन दोनो का मिलाप हो गया तो मस्तराम ने उस कृशकाय तपस्वीराज से पूछा—तू तो आजकल बहुत कमजोर हो रहा है। क्या कारण है?

कृशकाय ने कहा—यार क्या बतलाऊँ, अपने कर्मों के भोग भोग रहा हूँ। प्रथम तो डर के मारे निकला ही नहीं जाता। कदाचित् निकलता भी हूँ तो लोग डडे मारते है। इसलिए अपनी पोल मे ही भूखा-प्यासा पडा रहता हूँ। मगर तुम तो खूब तगडे हो रहे हो।

मस्तराम ने कहा—हाँ, मैं मुहल्ले से बाहर भी निकल जाता हूँ और खूब खाता हूँ। मगर तू यही क्यो पडा रहता है? कल से मेरे साथ चला कर। इसी मुहल्ले से हमे क्या लेना-देना है? आपन तो बिना झोली के फकीर है। चारो दिशाओ मे अपनी जागीर है। तू मेरे मुहल्ले मे आ जा, फिर देखना कितनी जल्दी खा-पीकर मस्त हो जाता है।

कृशकाय—तुम्हारी बात तो ठीक है, किन्तु मै उम्मीदवार हूँ और आज-कल मे सफलता मिलने की सभावना है। मुझे वह घडी आनन्द की मिलने ही वाली है। चिन्ता यही है कि मेरे इधर-उधर जाने मे वह घडी निकल न जाय।

मस्तराम—अच्छा, हमे भी तो बतलाओ कि वह घडी कौन-सी है जिसका इतना इन्तजार कर रहे हो?

कृशकाय—मेरे मुहल्ले की दो औरते बडी लडाकू है। वे सवेरे ही सवेरे पूरा पेटरोक्स भर कर तैयार हो जाती है और आमने-सामने गोली चलाने लगती है। एक कहती है—राड, मेरा नाम नही जो तुझे कालिये के साथ न ब्याह दूँ। उस कुत्ते को काला होने से लोग कालिया के नाम से पुकारते थे। उसके उत्तर मे दूसरी कहती है—राड, तू ने मुझे क्या समझ रखा है? मै अपने बाप की नही अगर तुझको ही कालिये के साथ न ब्याह दिया।

जब वे ऐसा कहती है और मेरा नाम लेती है तो मैं बाग-बाग हो जाता हूँ और सोचता हूं—कभी न कभी तो मेरा ही कुआरापन दूर होगा और मुझे भी दु ख-दर्द मे सहारा मिलेगा। यही आशा लिये मै भूख-प्यास का कष्ट उठाता हुआ भी इसी पोल मे अर्थात् मुहल्ले क दरवाजे मे पडा रहता हूँ।

सज्जनो! इसे कहते है कामराग! मरियल कुत्ता भी क्या आशा लगाये रहता है। मगर कुत्ता जैसा अविवेकी जीव ऐसा विचार करे तो हमे अफसोस नही है, क्योकि आखिर वह पशु है, मगर अफसोस है उन धोलियो के लिए—सफेदपोशो के लिए! मानव तो धोला है—उज्ज्वल है और उसका जीवन निखरा हुआ है, परिमार्जित है और उसके दिल-दिमाग मे हिताहित को समझने की शक्ति है। किन्तु अफसोस! वे भी उस कुत्ते के समान ही विचारो मे वहते रहते है।

तुमने कुत्ते को तो मूर्ख समझ लिया, किन्तु वह मूर्ख है तो आखिर कुत्ता ही तो है। वह भी रागभाव मे कहता है कि मेरा भी कुआरापन मिट जायगा। मगर उसका कुआरापन मिटने वाला नही है।

अरे दुनिया के लोगो! जैसे वह कुत्ता आशा ही आशा मे सूख कर मर गया और पोल नही छोड सका, क्या इसी प्रकार तुम भी आशा ही आशा मे अपनी जिंदगी पूरी नहीं कर रहे हो? जिसका विवाह नही हुआ, वह विवाह करना चाहता है, विवाहित सन्तान के लिए तडफ रहा है और सन्तान वाला पैसे के लिए मरा जा रहा है। लखपति करोडपति बनने के मसूबे करके पच रहा है

तो करोडपति अरवपति वनने के स्वप्न देख रहा है। इस प्रकार सव लोग अपनी-अपनी उधेड-बुन मे लगे है और आशा के दास वन कर जीवन को वर्वाद कर रहे है। राग के वशीभूत होकर मनुष्य निन्दनीय से निन्दनीय पापकृत्य करने मे भी सकोच नही करता। पाप करते समय तो कुछ जोर नही पडता, मगर उनका फल भोगते समय नानी याद आ जाती है।

अभिप्राय यह है कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व की यह त्रिपुटी इस आत्मा को दुखी वना रही है। रत्नत्रय को धारण करके जो इन दोषो का त्याग करते है और अपनी आत्मा को शुद्ध बनाते है, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
१८—१०—५६

शिवरमणी का सम्मिलन

उपस्थित महानुभावो !

दो तीन दिनो से जो विषय चल रहा है, वह बडा मार्मिक है, हृदयस्पर्शी है और आत्मिक बोध उत्पन्न करने वाला तथा सूक्ष्म है। यदि हम उसे भली-भाँति समझ लेते है और तदनुसार जो करना चाहिए वह कर डालते है तो आत्मा कृतकृत्य हो जाती है और फिर उसे कुछ भी करना शेष नही रहता।

किन्तु इतना सब कुछ सुनते हुए, समझते हुए और समझने के लिए दिमाग पर जोर देते हुए भी सुनी हुई बातो को जीवन मे ढालने का जो प्रयत्न करना चाहिए, वह नही किया जाता और इसी कारण आत्मा का उत्थान नहीं होता—जीवन का उल्लेखनीय विकास नही हो पाता।

आपने अपने मकान मे मेज के ऊपर ३६ प्रकार के सुन्दर स्वादिष्ट भोजन सजा दिये। सब पदार्थ अत्युत्तम है, आस्वादन करने योग्य है और भूख भी आपको लग रही है, खाने के लिए जीभ भी लपलपा रही है, मगर उन्हे सजा देने मात्र से उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो सकती है ? इतने मात्र से क्षुधानिवृत्ति नही हो सकती और रसना देवी को तृप्ति भी नही हो सकती। इसके लिए तो आपको उन पदार्थो का उपभोग करना पडेगा। खाने से ही भोजन का आनद प्राप्त होगा।

इसी प्रकार आपको नवीन से नवीन, उत्तम से उत्तम, सुसस्कारित विचार मिल रहे हैं। सर्वज्ञ और वीतराग की परम कल्याणी वाणी श्रवण करने और मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। वे विचार आपके लिए अत्यन्त हितकर हैं, आत्मिक गुणो का पोषण करने वाले है, आत्मा के लिए महान् से महान् वरदान रूप है। आनन्द देने वाले हैं। सुधा के समान मधुर है। किन्तु आप उनका व्यवहार न करे, उन्हे अपने जीवन मे व्यवहृत न करे, उनके अनुसार आचरण न करे तो वे वचन आपके आनन्द की पूर्ति किस प्रकार कर सकते है ?

जव मनुष्य के शरीर मे किसी प्रकार की व्याधि हो जाती हे, जठराग्नि की मन्दता हो जाती है और मुँह का जायका विगड जाता है तो मधुर से मधुर पदार्थ भी उससे खाये नही जाते, उसे रुचिकर नही लगते और कदाचित् खा लेता है तो अजीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार मोहग्रस्त जीव प्रथम तो जिनवाणी को सुनने के लिए, उसका रसास्वादन करने के लिए तैयार ही नही होता और यदि किसी प्रकार सौभाग्य से किसी महात्मा के मुखारविन्द मे जिनवचन सुनने को मिल गये तो वह अभागा सुन कर भी लाभ नही उठाता, अपने जीवन मे नही उतारता। और जव तक सुनी हुई चीज आत्मा मे अन्तरग रूप धारण नही कर लेती—जीवन मे एकरस नही हो जाती —तव तक आत्मा का उत्थान नही हो सकता।

तो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने वाले आत्मा के प्रधान शत्रु तीन हैं—राग, द्वेष और मिथ्यात्व। इन तीनो दोषो के कारण आत्मा अनादिकाल से जगत् के जजाल मे फँसा हे, जन्म-मरण के चक्कर मे पडा है और विविध प्रकार की व्यथाएँ सहन कर रहा है।

ये डाकू आत्मा के धन को बराबर लूटते चले आ रहे है और अपने पजे से नही निकलने देते। वडी मुश्किल से यह जीव जो घर का मालिक है येन केन प्रकारेण कुछ तप जप रूप धर्म क्रियाएँ कर धर्म धन का सचय करता है किन्तु ये डाकू एक दिन मे क्या एक घण्टे मे ही नही क्षण भर मे लट कर निर्धन वना देते हैं और आत्मा फिर कगाल हो जाता है।

सज्जनो कइयो को तो कमाई का सौभाग्य ही प्राप्त नही होता और वे ग्राहको की तरफ देखते ही रह जाते है और ग्राहक दूसरी दुकान पर चले जाते है। किन्तु जिनका लाभान्तराय कर्म टूट गया है, ग्राहक विना बुलाए ही उनके पास चले जाते है, और लाभान्तराय का उदय होने पर ग्राहको के आ जाने पर भी सौदा नही पटता है। इस प्रकार दुकानदार वडी मुश्किल से कमाता है, पेट काट कर जोडता है और डाकू दिन दहाडे छाती पर बैठ कर सब धन ले जाते है।

इसी प्रकार प्रथम तो चारित्र मोहोदय से व्रतादि करने की रुचि ही उत्पन्न नही होती यदि कही चारित्र मोहोदय के क्षयोपसम भाव से जीव कुछ करनी करता है और जप, तप, सयम, व्रत, नियम की पूजी जोडता है तो मिथ्यादर्शनादि डाकू दिन दहाडे आकर अज्ञान के थपेडो से मारपीट करके उसको धर्मकरणी को लूट कर ले जाते है और यह जीव वेचारा आत्मधन से निर्धन हो कर क्षत-विक्षत जीवन व्यतीत करता है। चौरासी के फेरे मे—आवागमन के चक्कर मे फँस जाता है।

चोर रात को और छिप कर आते है किन्तु डाकू तो ऐलान करके, सूचना देकर, इश्तिहार भेज कर आते है। तो डाकुओ मे

इतना दुस्साहस होता है क्योकि वे अपनी जान हथेली पर रख कर निकल पडे है। उनका हृदय क्रूर और पत्थर का बन गया है। वे पुलिस की और सरकार की भी परवाह नही करते। इन डाकुओ ने आजकल भारत सरकार का भी नाक मे दम कर रक्खा है। इसीलिए उन्हे पकडने के लिए विशेष रूप से पुलिस तैयार की जा रही है और मिलिटरी को भी विशेष ट्रेनिग दी जा रही है। परन्तु जब पुलिस अफसर घोपणा करता है कि डाकुओ का इतने दिनो मे सफाया कर दिया जाएगा तो उसका विपरीत परिणाम यह होता है कि डाकू अपनी चालाकी से पुलिस-अफसर के ही परिवार को मौत के घाट उतार देते है।

तो यह दशा है आजकल के दस्युओ की! जिस सरकार के पास सभी तरह के शस्त्र है, साधन है और प्रचण्ड शक्ति है उसे भी डाकुओ ने उलझन मे डाल रक्खा है। तो मामूली निहत्थे आदमी को लूट लेना उनके लिए क्या बडी बात है?

अर्थात् जिन महापुरुपो के पास प्रचुर मात्रा मे ज्ञान विवेकादि अस्त्र-शस्त्र थे रागादि आत्मशत्रु ने उन्हे भी लूट लिया तो जिस जीव के पास ज्ञान-विज्ञान के शस्त्र अधिक नही है, उसे तो मिथ्यात्वादि डाकू अनायास ही लूट लेते है, और डाकू इतने पक्के होशियार होते है, वे कहते है कि हमे तो पूरे गिन कर दो, कही कम न रह जाएँ।

तो इन राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन रूपी डाकुओ ने बडे-बडे ऋपियो-मुनियो के भी सिंहासन क्षण भर मे हिला दिये है, जिनको अपने अनुष्ठानो और क्रियाओं पर बडा अभिमान था और बड़े विश्वास के साथ जो सन्यास के क्षेत्र मे आए थे और कहते थे—हम आत्मा के डाकुओ को नेस्तनाबूद कर देंगे।

सज्जनो ! ससार मे बहादुरी का दम भरने वाले तो बहुत है, किन्तु मौके पर मुकाबिले मे आने वाले विरले ही होते है। शिशुपाल बडा अहकारी था और अपने को बडा भारी वीर योद्धा मानता था, मगर उसका अभिमान तभी तक कायम रहा, तभी तक शान बघार सका जब तक कि श्रीकृष्ण महाराज का सग्रामी रथ मैदान मे नहीं आया। वह गरज कर कहता था—कौन है मेरी माँग को ले जाने जाने वाला—रुक्मिणी के साथ विवाह करने वाला, किन्तु जब कृष्ण महाराज आ धमके और रुक्मिणी को ले गये तो शिशुपाल को रण मे परास्त ही नही होना पडा, वरन् अपने प्राणो से भी हाथ धोने पडे।

शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाह होना तय हो गया और तिथि नियत करके शिशुपाल के पास भेज दी गई तो शिशुपाल अपनी शादी की तैयारियाँ करने लगा। इधर नारद बाबा को घूमते-घामते पता चला कि रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ करना तय हो गया है, पर रुक्मिणी उसे नही चाहती और उसने कृष्ण को ही मन मे पति रूप से वरण कर लिया है। तो नारद बाबा को तो आप अच्छी तरह जानते है। वे बिगडी को बनाने मे और बनी को बिगाडने मे सिद्धहस्त थे। उसी समय वे कृष्ण जी के महल मे जा पहुँचे।

कृष्ण महाराज ने नारद बाबा का आदर-सत्कार करके उच्चासन पर आसीन किया और आगमन का कारण पूछा तो नारद जी ने फौरन ही अपनी झोली मे से रुक्मिणी का फोटो निकाल कर दिखा दिया और कहा" तुम इतनी रानियाँ लिये बैठे हो, किन्तु इस की सुन्दरता के सामने वे सब भेड-बकरियाँ है। इसके आगे सब पानी

भरने वाली है। अरे, तुम किस खूबसूरती पर नाज कर रहे हो? तनिक इसकी ओर दृष्टि डालो। इस अनिंद्य सुन्दरी तरुणी के लावण्य को स्वय विधाता ने अपने हाथो से सजाया है और बडे मनोयोग से घड कर तैयार किया है नमूने के रूप मे। इस सुन्दरी का मुकाबिला करने वाली तुम्हारे रनिवास मे एक भी रानी नही है।

रुक्मिणी का चित्र देखा तो कृष्ण महाराज के दिल मे भी हलचल मच गई। उस अपूर्व सौंदर्य को देख कर वे मुग्ध हो गये। तब उन्होने कहा—बाबा, तारीफ ही तारीफ करते रहोगे या नाम-धाम भी बतलाओगे? विधाता की इस अद्‌भुत असाधारण रचना को कोई सज्ञा भी मिली होगी और उस का कोई बाह्य जगत् मे स्थान भी तो होगा।

नारद जी सन्तोष के साथ बोले—महाराज मै खाली हाथ नही आया हूँ। नाम-धाम सब बतलाऊँगा। यह कुमारी रुक्मिणी हृदय से आपका वरण कर चुकी है, और आप से मिलने के लिए विह्वल हो रही है। मगर तत्त्व की बात तो यह है कि यदि रुक्मिणी आपको प्रिय हो तो सारी रामायण सुनाने की सार्थकता है, अन्यथा मेरी बात मेरे पास रही।

कृष्ण जी ने कहा—रुक्मिणी का यह चित्र और आपका खीचा हुआ शब्दचित्र देख-सुन कर मै उससे विवाह करने को आतुर हो गया हूँ। और हर तरह से उसे ग्रहण करने मे अपना सौभाग्य समझूगा।

नारद – तो रुक्मिणी आपको अवश्य प्राप्त होगी, मगर कच्चे पैरो मे नही प्राप्त होगी। उसे प्राप्त करना शेर की मूंछ का बाल

उखाडना है और साप के मत्थे की मणी लेना है। अतएव या तो प्रयास करना ही नही और प्रयास करो तो पूरी-पूरी तैयारी के साथ आना।

नारद जी कृष्ण महाराज को पूरा पता-ठिकाना बता कर और तिथि तथा समय निश्चित करके विदा हुए और सीधे शिशुपाल के महल मे जा पहुँचे। शिशुपाल ने भी बाबा जी का बहुत मान किया और योग्य आसन पर बिठलाया। तत्पश्चात् नारद जी इधर-उधर नजर फेर कर और सब कुछ जानते हुए भी अनजान बन कर बोले— महाराज, आज यह रगरेलियाँ क्यो हो रही हैं? शहनाइयो के बजने का क्या प्रसग है? आज सारी नगरी जैसे उत्सवमय हो रही है। यह सब किस उत्सव की आयोजना है?

शिशुपाल ने धीमी मुस्कराहट के साथ कहा - बाबा जी, आप से क्या छिपा है! सब कुछ जान कर भी आप अनजान बन रहे है!

तब नारद जी को जैसे अचानक स्मरण हो आया हो, वे बोले—अच्छा अच्छा, समझा। रुक्मिणी के साथ आपका विवाह होने वाला है। मगर याद रहता तो कैसे रहता, तुमने मुझे निमत्रण भी तो नही दिया है।

शिशुपाल - बाबा जी आप तो बिना निमन्त्रण ही जीमने वालो मे से है।

नारद—बडे हर्ष की बात है। चलो, बाई जो हमारी भी सेवा किया करेगी। मगर टेवा तो दिखला दिया होता मुझे।

शिशुपाल ने उसी समय टेवा मँगवा कर नारद जी के हाथो मे दिया। उसे देख कर और मीन-मेप-मकर की गणना करके वे सिर हिलाने लगे। उनके चेहरे पर असाधारण गम्भीरता आ गई।

नारद जी की भावभगी देख कर शिशुपाल का कलेजा कॉप गया। उसने पूछा—बाबा जी, इतनी गम्भीरता कैसे आ गई वदन पर? क्या कारण है?

नारद—और ग्रह तो सब ठीकठाक है, मगर एक ग्रह ऐसा पडा है जिससे सम्भावना होती है कि कही यह माग दूसरे की न हो जाय। आखिर कर्मो के आगे तो ब्रह्मा को भी हार माननी पडती है।

इसके वाद शिशुपाल ज्यो-ज्यो अधिक पूछता गया और गहराई मे उतरता गया, नारद जी और पलीता लगाते गये। आखिर शिशुपाल ने अपने उद्दण्ड दर्प के साथ कहा—देखो बाबा जी, ग्रह कुछ भी कहे और आप कुछ भी कहे, मै यह कहता हूँ कि क्षत्रियों की माग को दूसरा ले जाने वाला जन्मा ही नही है। क्या आप मेरे भुजवल से अपरिचित है? समरभूमि मे कौन मेरे सामने टिक सकता है? मेरी मॉग को ले जाना तो दूर रहा, उसकी ओर आख उठाने की भी हिम्मत कोई नही कर सकता। अगर करेगा तो अपनी करनी का फल भोगेगा।

शिशुपाल शेखी वघारने मे एक ही था। वह कब तक शेखी वघारता था? जब तक श्रीकृष्ण का रथ नही आया और जब रथ आ गया और उन्होने पाचजन्य शख फूका तो उसकी सेना का तिहाई भाग तो उस आवाज को सुन कर ही पलायन कर गया। जब वह रथ घूमने लगा और उसकी पुतलियाँ घूमने लगी, क्योकि वासुदेव की

सेवा मे हजारो देव उपस्थित रहते हैं, तब तो शिशुपाल का हौसला ही टूट गया। सारा उत्साह ठडा पड गया। कृष्ण महाराज रुक्मिणी को रथ मे बिठला कर चल दिये।

यह हाल देखा तो नारद बाबा को सन्तोष नही हुआ। पूरा मजा नही आया। अतएव तत्काल उन्होने अपना जाल फैलाना आरभ कर दिया। वे फौरन कृष्ण जी के पास पहुँचे और बोले—कृष्ण जी, यह काम तो चोरो का सा है और यह बात आप जैसे शूरवीर को शोभा नही देती। आपको वीरता प्रदर्शित करनी चाहिए।

फिर शिशुपाल के पास जा कर बोले—बस, निराश हो गये! इसी बलबूते पर शेखी मारते थे? क्या वीरो का यही धर्म है कि अपनी आँखो के सामने ही अपनी माँग को यो लुट जाने दे! असली क्षत्रिय प्राणो की परवाह न करके अपनी माँग को प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। तुम तो निराश और हताश होकर ही रह गये!

इस प्रकार दोनो के वीरत्व को जगा कर नारद जी तमाशा देखने लगे। दोनो ओर की सेनाएँ आमने-सामने हुई और समरक्षेत्र तैयार हो गया। मगर महाबली वासुदेव के मुकाबिले मे कौन ठहर सकता है? किसकी माँ ने सवा सेर सोठ खाई है जो उनका सामना कर सके? उन्हे 'युद्धशूर' विशेषण दिया गया है। यो तो चक्रवर्त्ती छह खण्ड का स्वामी होता है और वासुदेव तीन खण्ड का अधिपति, किन्तु युद्ध करने मे जैसा सफल और कुशल योद्धा वासुदेव होता है वैसा चक्रवर्त्ती नही होता। चक्रवर्त्ती के सेना और युद्ध सम्बन्धी सब कार्य सेनापति के जिम्मे होते है, किन्तु वासुदेव स्वय युद्धक्षेत्र मे आकर अपने हाथ दिखलाता है।

तो शिशुपाल पूरे जोश के साथ चढ कर आया किन्तु शीघ्र ही उसके हौसले नष्ट हो गये और दो मिनट भी वह कृष्ण जी के सामने न टिक सका।

सूयगडाग मे बतलाया गया है कि कोई-कोई मनुष्य न्यायक्षेत्र मे वडी उत्क्रान्त भावना लेकर निकलते है। वे राजपाट, ऐश्वर्य और सुखसामग्री को इस प्रकार त्याग देते है जैसे कोई नाक के मैल को त्याग देता है और साधु वन जाते है, इस दृढ निश्चय के साथ कि हम आत्मा के विरोधी तत्त्वो को, राग-द्वेष को नष्ट कर देगे, जड से उखाड कर फैक देगे, मूलोच्छेदन कर देगे और फिर वे सिर भी न उठा सकेगे। इस प्रकार उनके स्वाभिमान का कोई ठिकाना नही होता। किन्तु शिशुपाल जैसा उनका यह अभिमान तभी तक ठहरता है जब तक कृष्ण की तरह बाईस प्रकार के परीषह उनके सामने नही आते। वे तभी तक साधु वन कर गरजते है। तभी तक उनका साहस टिकता है जब तक राग, द्वेप, काम, क्रोध, लोभ, मोह, पाँच इन्द्रियो के २३ विषय और २४० विकार और १४८ कर्मप्रकृत्तियाँ तथा १३०० प्रकार के क्रोध, १३०० प्रकार का मान, १३०० प्रकार की माया-कपटाई और १३०० प्रकार का लोभ, यह कपाय की जबर्दस्त विशाल सेना उनके मुकाबिले के लिए नही आती।

मगर इस समग्र सेना के साथ मोह रूपी कृष्ण का जब शखनाद होता है तो वडे-वडे वीर साधक-योद्धा रणस्थल को छोड कर भाग जाते है। इनका सामना करके विजय प्राप्त करना सब के बूते का काम नही।

रणविजयी सच्चा विजयी नही होता। सच्चा शूरवीर तो वही होता है जो इन्द्रियो को काबू मे करता है। दूसरे शत्रुओ को जीत लेना कोई मुश्किल नही है, इन्द्रियो को जीत लेना ही कठिन है। शास्त्र मे कहा है—

एगे जिए जिया पच, पच जिए जिया दस।
दसहा उ जिणित्ताण, सव्वसत्तू जिणामह ॥

अर्थात् जिसने एक को जीत लिया, उसने पाँचो को जीत लिया, जिसने पाँच को जीत लिया उसने दसो को जीत लिया और जिसने दस पर विजय प्राप्त कर ली, उसने सभी शत्रुओ को जीत लिया।

तो यहाँ दुश्मनो को जीतने का तरीका बतलाया गया है। लडाई लडने के भी कई ढग होते है। सेना अगर बाकायदा ट्रेनिग लेकर लडती है तो शत्रुओ की दाल नही गल पाती और शीघ्र विजय प्राप्त कर लेती है। किन्तु यदि अशिक्षित रगरूटो को युद्धभूमि मे उतार दिया जाता है तो वे स्वय भी मर जाते है और उन्हे पराजय का भी मुख देखना पडता है। जो लडाई का तरीका जानता है वही सफाई के साथ दुश्मन को पछाड सकता है और विजय प्राप्त कर सकता है।

तो यहाँ कहा गया है कि उस एक को सर्वप्रथम जीत लो जो सब के हौसले बढा रहा है। उसे जीतने से पाँच वश मे हो जाएँगे और जब पाँचो पर विजय प्राप्त हो जाएगी तो दस को भी जीत सकोगे और जिसने दस को जीत लिया, समझ लो कि उसने सभी शत्रुओ को जीत लिया। वह विश्वविजयी कहलाने लगता है।

प्रश्न होता है—वह एक, पाँच और दस क्या है, जिन्हे जीतना आवश्यक है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्मबंध का प्रधान कारण और इन्द्रियो को इधर-उधर भटकाने तथा कुपथ मे ले जाने वाला एक मन ही है। अतएव जिसने एक मन को जीत लिया उसने क्रोध, मान माया और लोभ सहित पाँच पर विजय प्राप्त कर ली, क्योकि यह सब मनीराम जी के ही परम मित्र है।

क्रोध कब आता है ? मन मे कोई इच्छा उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति नही होती तो तत्काल क्रोध का आवेश उत्पन्न हो जाता है। जिसे क्रोध उत्पन्न हुआ है, उसमे यदि शक्ति है तो वह मान मे भी आ जाएगा और कहेगा—मैं इसे देख लूँगा, जीत लूँगा, मै उससे कम नही हूँ।

जब किसी वस्तु के विषय मे प्रलोभन उत्पन्न होता है तो लोभ का आविर्भाव हो जाता हे और जब वह वस्तु सीधी तरह प्राप्त नही होती तो माया का सेवन करना पडता है। इस प्रकार मन मे जब वस्तु की माँग होती है, तभी क्रोध, मान, माया और लोभ को एक दूसरे के पश्चात् हमला करने का अवसर मिलता है।

इस प्रकार मन ही इन कषायो को भडकाने वाला है और सब को आज्ञा देने वाला है। मन आज्ञा ही न दे तो वे आगे काम ही नही कर सकते। अतएव सब को सचालित करने वाले सेनापति मनीराम को अगर पहले जीत लिया जाए तो इसके चार घनिष्ठ मित्र भी सहज ही जीते जा सकते हे, क्योकि चारो कषायो का प्रयोग मन की तुष्टि के लिए ही किया जाता है।

कषायो को जीत लेने पर इन्द्रियो की माँग ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रियो के विकार भी नष्ट हो जाते है। राजा की आज्ञा पहले मन्त्रियो के पास और फिर छोटे अफसरो के पास जाती है। राजा आज्ञा ही न दे तो उसके अग्रसर होने का भी प्रश्न उपस्थित नही होता। मन रूपी राजा को जीत लेने पर कषाय-मन्त्री भी वश मे हो जाते है और फिर इन्द्रियाँ छोटे अफसरो की तरह स्वत वशीभूत हो जाती है। इन्हे जीत लिया तो सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त हो जाती है। किन्तु इस एक (मन) को जीत लेना ही कठिन है। आप सामायिक करते है, प्रतिक्रमण करते है और ध्यान करते है, मगर मनीराम जी इधर-उधर उडाने भरते रहते है। जब आत्मचितन करने वेठे कि इस मन ने गडवड करना शुरु किया। साधारण सन्त भी इसे एकनिष्ठ नही कर पाते तो अन्य लोगो का तो कहना ही क्या है ? मन को और कषायो को जीतना किसी श्रेष्ठ वीर का ही काम है। मन ने वडे-वडे योगियो को भी चलायमान कर दिया है। जैसे शिशुपाल जोर से गर्जना कर रहा था, किन्तु कृष्ण के आने के वाद उसके सव अस्त्रशस्त्र ढीले पड गये, इसी प्रकार मन के तूफान के सामने योगी भी हार मान वैठे।

मोह के आगे सव के आसन हिल जाते है। इसका हमला होने पर कायर लोग झोली-झडा लेकर भाग खडे होते है। अतएव मोह को जीतना वडा ही मुश्किल है। ये राग और द्वेष दो पहलवान मोह रूपी पिता के पुत्र है और इन्होने वड़े-वडे सूरमाओ का गर्व खर्व किया है। कोई विरला ही योद्धा इन्हे जीतने मे समर्थ होता है।

जिनके पास ज्ञान-ध्यान के शस्त्रास्त्र नही होते, उन्हे ये चुटकियो मे ही निर्दिष्ट पथ से विचलित कर देते है। इनकी प्रचण्डता

तो इसी से प्रतीत हो जाती है कि जिनको अनेक पूर्वो का ज्ञान प्राप्त था जो अनेक प्रकार की ऋद्धियो से सम्पन्न थे और जो समर्थ एव शक्तिशाली थे, उन पर भी राग, द्वेप और मिथ्यात्व ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और क्षण भर मे उनके भी आसन हिला दिये। वे धराशायी हो गए। परास्त हो गए।

भद्र पुरुषो ! जैसे भूकम्प आने से हजारो मकान धराशायी हो जाते है, उसी प्रकार जव मोहनीय कर्म का जलजला आता है तो वडे-वडे योगिराज, जो पर्वत की भाँति अडोल, अकम्प प्रतीत होते थे उलट-पुलट हो जाते है। अतएव मोहनीय कर्म को जीतना कोई वच्चो का खेल नही है। इसे विरले वीर ही जीत पाते है। इस प्रकार राग, द्वेप, और मिथ्यादर्शन, ये तीनो ही जवर्दस्त पहलवान है।

सच तो यह हे कि जव तक नाशवान भोतिक पदार्थो के प्रति हमारा रागभाव है, आकर्पण है, आसक्ति है, तव तक हम आत्माभिमुख नही वन सकते। तव तक हमारी दृष्टि वहिर्दृष्टि ही रहेगी, अन्तर्दृष्टि नही वन सकेगी और जव तक हम आत्माभिमुख नही वनेगे तव तक विकारो पर विजय पाना सम्भव नही हे। आज रागी पुरुप नही करने योग्य कार्य भी विना हिचक के कर डालते है। राग के वशीभूत होकर एक को ऊँचा चढाने के लिए दूसरो को नीचा दिखाते हे और कलक लगाने को भी तैयार हो जाते है। राग से प्रेरित ससार के प्राणी परम पीडा पा रहे हे और कितने तो प्राणो से भी हाथ धो वैठते है।

सज्जनो ! हाथी स्पर्शनेन्द्रिय के विकार के वशीभूत होकर गड्ढे मे फँस जाता है। वह रागान्ध होकर कागज की हथिनी को

वास्तविक हथिनी समझ कर मतवाला हो उठता है और भाग कर उसकी ओर जाता है। जाते ही गड्ढे मे गिर जाता है और फिर भालो से छेदा जाता है और इस प्रकार उस का प्राणान्त हो जाता है।

इसी प्रकार सर्प भी जब श्रोत्रेन्द्रिय-विकार से पीडित होकर वावी मे से बाहर निकलता है और पुङ्गी बजाने वाले के पास फण फैला कर झूम-झूम कर उसकी सुरीली आवाज सुनता है तो आत्म-विस्मृत हो जाता है। उस राग मे वह इतना अन्धा हो जाता है कि अपनी सुधबुध ही भूल जाता है और पकडने वाले सँपेरे—कालवेलिये उसे पकड लेते है। फिर उसके जहरीले दातो और जहर की थैलियो को निकाल दिया जाता है। मारने वाले मार भी देते है और कई लोग पिटारे मे वन्द कर देते है। पिटारा उसके लिए जिन्दगी भर का जेलखाना बन जाता है। सर्प की 'यह दुर्दशा राग के कारण ही होती है।

इसी प्रकार मछली भी राग के कारण अपने प्राणो से हाथ धो बैठती है। जब मच्छी पकडने वाले शिकारी तालाव या नदी पर जाते है और काटे मे आटे की गोली लगा कर पानी मे डालते है तो रसना के राग मे फँस कर मछली उस आटे को खाने के लिए काटे को मुह मे लेती है। उसी समय काटा तालु मे चुभ जाता है और वह फडफडा कर मर जाती है।

भैसा स्पर्शनेन्द्रिय के राग मे फँस कर शारीरिक सन्ताप का निवारण करने के लिए जलाशय मे प्रवेश करता है तो कभी-कभी वडे-वडे मगर या अन्य प्रकार के विशालकाय जलजन्तु उसे खीच कर ले जाते है और खा जाते है।

आँखो का रागी पतगा किस प्रकार दीपक पर पड कर उसकी लो मे भस्म हो जाता है, यह कौन नही जानता ?

सगीत का रागी हिरन जगल मे बासुरी की श्रुतिमधुर ध्वनि सुनकर मस्त हो जाता है और फलस्वरूप शिकारी के द्वारा गोली मार कर गिरा दिया जाता है।

अरे दुनिया के लोगो ! जब एक-एक इन्द्रिय का राग भी इस प्रकार प्राणहनन का कारण बनता है और जीव को घोरातिघोर दशा मे पहुँचा देता है तो जो मनुष्य पाँचो इन्द्रियो का अनुरागी होता है उसकी कैसी दारुण दशा होगी ? सत्य तो यह है कि जब तक रागभाव नही छूटता तब तक मोक्ष को प्राप्ति नही हो सकेगी। इस सम्बन्ध मे सहसा एक बात स्मरण हो आई।

एक नवयुवक स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाला था। मगर वह शरीर से ही नही, मस्तिष्क से भी सुन्दर था, अर्थात् अक्ल से भी बडा होशियार था। अच्छी कमाई करता था। मगर बुरी सगति के कारण वह जुआ खेलने, शराब पीने, वेश्यागमन करने, परस्त्री सेवन करने आदि की बुरी लतो—दुर्व्यसनो—का शिकार हो गया। इन दुर्व्यसनो की आग मे उसका कमाया हुआ सारा पैसा भस्म हो जाता था। धीरे-धीरे उसके सिर पर काफी कर्ज भी हो गया। इस प्रकार कमाई करता हुआ भी वह अत्यन्त दु खी हो गया। खर्च पूरा न पडने लगा। वह अविवाहित था, पर ऐसे दुर्व्यसनी को लडकी दे कौन ? जानबूझ कर कोई अपनी कन्या का जीवन बर्बाद नही करना चाहता।

जब उसका आचार-विचार असह्य हो गया तो विवश होकर माता-पिता ने उसे घर से पृथक् कर दिया। वह निराश होकर राज-

मार्ग पर चला जा रहा था केवल एक तमन्ना दिल मे लिए हुए कि मुझको कोई सुख-दु ख मे साथ देने वाला जिन्दगी का साथी मिल जाए। वह इसी उधेडबुन मे आगे बढता जा रहा था कि सामने से आती हुई एक सुन्दरी नवयुवती उसे दिखाई दी। ज्यो ही वह उसके पास से गुजरी तो उस नवयुवक ने बडे ही नम्रता और शिष्टाचार के शब्दो मे उससे कहा—भद्रे ! क्या तुम मेरे जीवन का साथी बन सकती हो ?

सज्जनो ! शब्दो-शब्दो मे और फिर उनको कहने के ढग मे बडा अन्तर होता है। यदि नवयुवक ने उद्दण्डता के साथ, काम-विकार की दृष्टि से ये शब्द कहे होते तो सम्भवत बहुत बुरा और उलटा ही असर पडता, किन्तु उसने बडी गम्भीर मुद्रा मे और कुछ आन्तरिक वेदना के साथ ये शब्द कहे थे। सौजन्य और शिष्टता का पूरी तरह निर्वाह करते हुए ही अपने विचार व्यक्त किये थे। यो राह चलती नवयुवती के सामने जीवनसाथी बनने का प्रस्ताव रख देना सामाजिक दृष्टि से अक्षम्य अपराध माना जाता है, परन्तु जो बात शुद्ध हृदय से कही जाती है, उसका प्रभाव अच्छा ही पडता है।

हाँ तो उस नवयुवती ने अचानक ही हृदय मे उथल-पुथल मचा देने वाले शब्द सुने और नवयुवक की गम्भीर मुखमुद्रा देखी। नवयुवती भी बडी चतुर और अच्छाई-बुराई की परख करने वाली थी। उसने उसके शब्दो और ढग से ही नवयुवक के जाति-कुल की परीक्षा कर ली।

सज्जनो ! मनुष्य को गधा नही पहचान सकता है। मनुष्य ही मनुष्य की परख करता है। भला वह मनुष्य ही क्या जो मनुष्य

को न पहचाने ! मनुष्य की कुलीनता-अकुलीनता उसके चेहरे पर अकित रहती है और उस लिपि को पढने की सामर्थ्य जिसमे है, वह अनायास ही पढकर समझ लेता है।

इस प्रसग मे भी मुझे एक बात याद आती है। एक बार किसी विशेष अवसर पर राजा भोज की सवारी निकलने वाली थी। एक अन्धे ने लोगो से कहा—मै राजा भोज से मिलना चाहता हूँ। अन्धे की बात सुन कर लोगो ने कहा—तेरी अक्ल तो नही मारी गई है ! पृथ्वी पर खडा हो कर चॉद को पकडना चाहता है। बडे-बडे अमीर और उमराव तो प्रतीक्षा करते-करते निराश हो जाते है और राजा भोज से मुलाकात नही कर पाते और तू उनसे भेंट करने का मसूबा बॉध रहा है। तेरी वहाँ कहाँ गुजर होगी ?

किन्तु अन्धे ने कहा—माई-बाप ! कृपा कर मुझे एक बार मिला दो।

तब एक सज्जन पुरुष ने कहा—अगर मिलने की तेरी बडी उत्कट इच्छा है तो चल मेरे साथ। मैं तुझे ऐसी जगह खडा किये देता हूँ जहाँ से होकर राजा की सवारी निकलेगी। शेष काम तू स्वय कर लेना।

उसने अन्धे को ले जाकर वहाँ खडा कर दिया। राजा की सवारी आरम्भ हुई तो आगे-आगे दूसरे लोग—सिपाही और अन्य कर्मचारी—निकले। उन्होने सूरदास से कहा—अरे अन्धे ! क्या तेरी अक्ल भी फूट गई है जो यहाँ रास्ते मे खडा हो गया है ? चल, हट यहाँ से।

अन्धा चुपचाप सबकी बाते सुनता रहा। उसने सोचा—कोई बात नही है। दर्शन करने के लिए तो मुझे अपमान भी सहना पडेगा और डडे भी खाने पडेंगे।

सज्जनो ! महत्त्वपूर्ण कामो के लिए ठोकरे भी खानी पडती है। परमात्मा से भेट करने के लिए क्या-क्या नही करना पडता ? काम, क्रोध, लोभ, मोह आत्मा मे थे, किन्तु जिन्होने पुण्य उपार्जन किया था, उनकी परमात्मा से भेट हो ही गई और वे शत्रु उनका कुछ भी न विगाड सके। परमात्मा से मुलाकात भी करना और अपमान से भी डरना, ये दोनो बाते एक साथ नही बन सकती। जिसे अपने प्रेमी से मिलना होता है, उसे क्या-क्या मुसीबत नही उठानी पडती ? वह प्रसन्नतापूर्वक सब कष्टो और सकटो को सहन करता है और अपने ध्येय से विचलित नही होता।

तो उस अन्धे ने सोचा—अपमान सहन करके भी यदि मैं राजा से मुलाकात कर सकूँ तो भी मेरा जीवन धन्य हो जायगा।

सब लोग अन्धे को दुतकारते और फटकारते हुए निकल गये तो अन्त मे राजा की सवारी आई। ज्यो ही उन्होने सूरदास को देखा तो कहा—क्यो जी सूरदास जी, प्रज्ञाचक्षु जी, आप यहाँ कैसे खडे हो ?

ये ऊँचे और मीठे शब्द सुन कर अन्धे ने प्रसन्न हो कर कहा—अन्नदाता ! मैं तो आपकी प्रतीक्षा मे, आपके दर्शनो के लिए वडी देर से खडा हूँ। मैं आपसे ही मिलने के लिए खड़ा हूँ भोजराज महाराज।

राजा भोज अन्धे के मुख से अपना नाम सुन कर वडे विस्मय मे पड गये। सोचने लगे—मै इसके सामने कभी आया नही, किसी ने इसको मेरा परिचय दिया नही, फिर इसने मुझे कैसे पहचान लिया ?

प्रकट रूप से राजा भोज ने अन्धे से पूछा - सूरदास जी, आपने मुझे कैसे पहचान लिया ?

अन्धा—महाराज, आपसे पहले बहुत लोग इधर से निकले और वे मुझसे बोले । मगर उनकी बोली मे वह बडप्पन नही था, उच्चकोटि की कुलीनता उससे नही टपकती थी । किन्तु जब आप पधारे और आपने बडप्पन भरे शब्दो से इस नाचीज को सम्बोधित किया तो मेरी अन्तरात्मा ने साक्षी दी कि यही महाराजाधिराज भोज है । महाराज, मै आपसे मुलाकात कर सका, अतएव मेरे जीवन की एक बडी लालसा पूरी हुई । किन्तु अन्नदाता ! मेरी स्थिति ऐसी है कि कुछ कह नही सकता ।

अन्धे का कथन सुन कर राजा ने कहा—सूरदास जी तुम घबराओ मत । तुम को घर बैठे जीवन का साधन मिल जाया करेगा ।

तो अभिप्राय यह है कि वाणी कुलीनता-अकुलीनता की कसौटी है । वह हीनता और महत्ता को तत्काल प्रकट कर देती है उससे बड़े और छोटे का भेद मालूम हो जाता है ।

तो मै कह रहा था कि वह नवयुवती भी कुलीन घराने की थी, अत सब कुछ सोच-समझ कर उसने उस नवयुवक को उत्तर दिया—क्यो नही जीवन का साथी बन सकती हूँ ? जैसे तुमको जीवन के साथी की जरूरत है, वैसे ही मुझको भी जीवनसाथी की अपेक्षा है, क्योकि मैं भी कुवारी हूँ और यह जीवन बिना सहयोग के नही चलता है । मुझे आपका जीवन-साथी बनने मे कोई आपत्ति नही है, परन्तु पहले मैं जानना चाहूँगी कि आपके जीवन मे कोई दुर्व्यसन तो नही है ?

सज्जनो ! जरा ध्यान दो उस नवयुवती के प्रश्न पर। उसने यह नही पूछा कि आपके घर मे मोटर है ? रेडियो है ? सोने का कदोरा और गोखरू है ? रहने को शानदार बगला है ? उस भद्रा ने, जीवन मे जो तत्त्व की बात है, वही पूछी कि आपके जीवन मे कोई ऐब तो नही है। कोई दुर्व्यसन तो ऐसा नही है जो हमारे दाम्पत्य जीवन के सुख मे बाधक हो और हमारे स्वर्गीय जीवन को नारकीय बना दे ?

उस नवयुवती ने कहा – दाम्पत्य जीवन एक-दो दिन का नही कि जैसे-तैसे निभा लिया जाय। वह जीवनपर्यन्त के लिए होता है। यह हम दोनो की लम्बी यात्रा को सुचारुरूपेण निर्बाध गति से चलाने का प्रश्न है। अतएव मुझे सिर्फ इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए।

किन्तु नवयुवती का प्रश्न सुन कर युवक का मस्तक लज्जा से नीचे झुक गया। कुछ समय तक कठ अवरुद्ध रहा और वह उत्तर न दे सका। वह मन ही मन सोचने लगा—धिक्कार है मुझको ! मैंने मनुष्य होकर भी अपने जीवन को रसातल मे पहुँचा दिया। अगर मैने इस भद्रा को झूठ बोल कर धोखा दिया तो मेरी नीचता की पराकाष्ठा हो जायगी हमेशा के लिए मुझे जीवन सूत्र मे गुथना है तो इससे कोई बात छिपानी नही चाहिए और जो वास्तविकता है वह प्रकट कर देनी चाहिए।

इस प्रकार निश्चय करके उसने कहा—भद्रे ! तुम्हारे प्रश्न के उत्तर मे मुझे यही कहना है कि मेरा जीवन अनेक ऐबों से चलनी चलनी हो रहा है। जब मै तुम्हे अपनी जीवनसगिनी बनाना चाहता

हूँ तो मेरा यह कर्त्तव्य है कि तुमसे कुछ भी पर्दा न रक्खूं, सब वात साफ-साफ वतला दूं। कहा है—

प्रीत जहॉ पर्दा नही, पर्दा जह नहि प्रीत।
प्रीत करी पर्दा रखे, प्रीत नही विपरीत ॥

जहॉ पर्दा है वहॉ प्रीति कैसी ? और जहॉ प्रीति है वहॉ पर्दा कैसा ?

तो उस नवयुवती ने कहा—जव तक दुर्व्यसन आपके साथी है, मै आपकी साथी कैसे वन सकती हूँ ? आप जानते ही है कि एक म्यान मे दो तलवारे नही समा सकती। मै आपके साथ रह कर अपना जीवन नही बिगाड सकती।

नवयुवती की स्पष्ट और युक्तियुक्त वात सुनी तो नवयुवक के मन मे एक नया द्वन्द्व उठ खडा हुआ। एक नवीन समस्या उत्पन्न हो गई। उसके जीवन मे दुर्व्यसनो ने पक्का अड्डा जमा रक्खा था और उन्हे निकाल देना आसान काम नही था। माता, पिता, कुटुम्बी और मित्रगण उसे समझा कर निराश हो चुके थे और वह दुव्यसनो का परित्याग नही कर सका था। मगर इस समय की परिस्थिति कुछ और प्रकार की थी। एक ओर दुर्व्यसनो को त्यागने का प्रश्न था और दूसरी ओर जीवन का साथी वनाने का प्रश्न। दोनो वाते वन नही सकती थी। युवती का प्रेमी वनना है तो दुर्व्यसनो को दूर करना होगा और यदि दुर्व्यसनो को दूर नही किया जा सकता तो उसके प्रेम से वचित होना पडेगा।

सज्जनो! इस आत्मा के लिए असाध्य क्या है ? आत्मा मे अनन्त-अनन्त क्षमताएँ भरी हुई है। उसके वल की कही सीमा नही

है। अतएव अगर आत्मा दृढ सकल्प कर ले तो सभी कार्य उसके लिए सुसाध्य हो जाते है। वस अपनी सोई हुई शक्ति को जगाना चाहिए। जब तक स्वाभिमान अगडाई लेकर उठता नही है, तभी तक सब काम असाध्य प्रतीत होते है और जब वह जागृत हो जाता है तो दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाते है।

नवयुवती के प्रश्न ने नवयुवक की सुषुप्त चेतना को जागृत कर दिया। वह लज्जित हो गया, पर उसकी आँखे खुल गई। उसने उसी समय सूर्य को साक्षी करके प्रतिज्ञा कर डाली—'आज से मै समस्त दुर्व्यसनो का परित्याग करता हूँ। मैं प्राण त्याग दूँगा पर प्रण नही भग करूँगा। सूर्यदेव मेरी इस प्रतिज्ञा का साक्षी है।' उसी समय उसने एक प्रतिज्ञापत्र भी लिख दिया।

आज की क्या स्थिति है ? बहुत-से लोग गुरुओ के समक्ष अरिहन्त भगवान् की साक्षी से प्रतिज्ञा लेकर भी तोड देते है। सूर्य को कदाचित् पता नही किन्तु अरिहन्त तो केवलज्ञानी है, सर्वज्ञ है, यह जानते हुए भी लोग असत्य का आचरण करते है। भगवान् को धोखा देना अपने आपको ही धोखा देना है। ऐसे आत्मवचना करने वाले लोगो के जीवन का क्या मूल्याकन किया जाय ? क्या महत्त्व माना जाय ?

हाँ तो उस प्रतिज्ञा का परिणाम यह हुआ कि उस युवती ने अपने घर जाकर माता-पिता के समक्ष अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—आप बहुत दिनो से मेरे वर की तलाश मे घूम रहे है, परन्तु आपको मेरे योग्य वर नही मिला। मैने उसी वर को आज खोज लिया है और आपकी सारी तकलीफ दूर कर दी है। पूज्य

माता-पिता! मैने अपने जीवन का साथी तलाश कर लिया है। अब आप इस चिन्ता से मुक्त हो।

इस प्रकार कह कर उसने युवक के साथ हुई बात-चीत की राम कहानी कह सुनाई। यह भी कह दिया कि मै इस सम्बन्ध से सन्तुष्ट हूँ और आपकी अनुमति चाहती हूँ।

सज्जनो! सुलझे हुए के साथ रिश्ता किया तो क्या किया? किसी बिगडे जीवन को सुधारने मे ही सुधरे जीवन की सार्थकता है।

लडकी के माता-पिता उदारचेता और बुद्धिमान् थे। लडकी की बात सुन कर उन्होने बुरा नही माना; लडकी को उद्दण्ड नही समझा, बल्कि यह सोचा—लडकी बडी बुद्धिमती है जिसने सम्बन्ध होने से पहले ही एक नवयुवक के गिरते हुए जीवन को उठा दिया, बिगडे को सुधार दिया। सम्बन्ध होने के पश्चात् तो न जाने यह क्या प्रकाश करेगी!

यह सोच कर और लडकी के भविष्य पर विश्वास करके माता-पिता ने आज्ञा दे दी। विवाह की तिथि नियत हो गई। फेरो का समय आया तो सात वचन वर की तरफ से वधू को और सात ही वचन वधू की ओर से वर को अगीकार करने पड़ते है। वह सब करने के अतिरिक्त वर ने पहले जो प्रतिज्ञापत्र लिख कर दिया था, उसे सुन्दर चौखट मे जड़वा कर वधू को समर्पित किया। उसने अपनी प्रतिज्ञा पचो के समक्ष दोहराई।

विवाह की इस विधि में यह अपूर्वता थी। यह देख सुन कर सब लोग वाह-वाह और धन्य-धन्य करने लगे। विवेकशील लोगो ने

कहा—कितनी असाधारण और उत्कृष्ट कन्या है यह जिसने मोटर, रेडियो, धन-दौलत आदि कुछ नही देखा, सिर्फ शुद्ध, सदाचारी और स्वस्थ वर ही देखा और उसके समस्त दुर्व्यसनो का त्याग करवा दिया। वास्तविक जीवन साथी तो व्यक्ति होता है, न कि रेडियो और धन आदि।

विवाहविधि सम्पूर्ण हो जाने के पश्चात् वर-वधू ने जब गृह-प्रवेश किया तो माता-पिता के आनन्द का पार न रहा। उनके हृदय-सरोवर मे हर्ष और उल्लास की उत्तुग तरगे उठने लगी। उन्होने बहूरानी को वरदायिनी देवी के रूप मे ग्रहण किया। वे पुन-पुनः उसकी प्रशसा करने लगे कि—धन्य हो बेटी, तुमने हमारे पुत्र के जीवन को नया मोड प्रदान किया है। एक प्रकार से नवीन स्पृहणीय जीवन प्रदान किया है। सब ने उन्हे शतश शुभाशीर्वाद दिये।

सारे परिवार का वातावरण बदल गया। दोनो सानन्द दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे और अपने अपने धर्म का पालन करने लगे।

यह एक दृष्टान्त है। मुझे उस नवयुवक और नवयुवती से क्या लेना है? मगर कुछ लेना भी है और इसीलिए इतनी मेहनत की है। इस उदाहरण से अनेक निष्कर्ष निकलते है। सब से पहिले तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अगर लडकी विदुषी और समझदार होती है तो वह बिगडे हुए को भी सुधार लेती है। अतएव माता-पिता को चाहिए कि अपनी लडकियो को सुशिक्षिता बनावे परन्तु साथ ही साथ उनके सुसस्कारो एव सदाचार की ओर भी ध्यान

रक्खे; क्योकि सुसस्कार और सदाचार के विना दूसरो को सुधारना शक्य नही है ।

दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि विवाह वास्तव मे वर-वधू का होता है, उसमे धन की प्रधानता नही होती । अतएव जो लोग मोटरे और पीली-पीली मोहरे मॉगते है, वे वस्तुत धन के साथ अपनी सन्तान का विवाह करते है । वे विवाह के उद्देश्य से सर्वथा अपरिचित है । जिस सम्वन्ध मे वर-वधू के सद्गुणो का ख्याल न कर के धन-दहेज का ही ख्याल किया जाता है, वे भविष्य मे भाग्य से ही सुखदायी सिद्ध होते है । अगर लडका सदाचारी और बुद्धिमान् है तो वह सव कुछ प्राप्त कर लेगा और यदि दुराचारी है तो मोटरो, वगलो और धन-दौलत को भी समाप्त कर देगा ।

इस उदाहरण से अन्य अनेक वातो पर भी प्रकाश पडता है, जिन पर प्रकाश डालने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नही होती । वुद्धिमान् स्वय ही भली-भॉति सोच-समझ सकते है ।

किन्तु ये निष्कर्ष ऐहिक है, अतएव सामान्य है । जिस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया था, वह तो दूसरा ही है और उपसहार मे उस पर प्रकाश डालना उचित होगा ।

यहाँ राग, द्वेष और मिथ्यात्व का प्रसंग चल रहा है । उस नवयुवक को सुशीला और आदर्श कन्या तभी प्राप्त हो सकी जव कि उसने दुर्व्यसनो के अनुराग का त्याग किया । अगर उसने दुर्व्यसनो के अनुराग का त्याग न किया होता तो वह हाड-मॉस की पुतली उस युवती को प्राप्त नही कर सकता था । सज्जनो ! नवयुवक ने

उसे प्राप्त करने के लिए, जिसके विषय मे निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वह आजीवन साथ देगी ही देगी, दुर्व्यसनो का त्याग कर दिया! हम प्रतिदिन देखते ही है कि इस नाशवान् ससार मे पति पत्नी को और पत्नी पति को छोड कर सहसा चल देते है। फिर भी ससार आशा पर ही अवलम्बित है।

तो एक सुयोग्य नवयुवती को प्राप्त करने के लिए भी जब दुर्व्यसनो का त्याग करना आवश्यक है तो उस युवती—शिवरमणी को प्राप्त करने के लिए अगर राग, द्वेष और मिथ्यात्व का पूर्ण त्याग अनिवार्य है तो उसमे आश्चर्य की बात ही क्या है? अतएव राग, द्वेष, और मिथ्यात्व को त्यागे बिना मुक्ति-वधू का समागम नही हो सकता। उसका समागम हो जाने पर फिर दूसरा लग्न करने का आवश्यकता नही रहती। उसे पाने के लिए बडे त्याग की आवश्यकता है। दुर्व्यसनी को, निन्दक को और चुगलखोर को उस की प्राप्ति नही हो सकती। उसको प्राप्त करने मे ही जीवन की कृतार्थता है। उसके प्राप्त हो जाने पर समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार जो राग-द्वेष की परिणति का त्याग करता है, वह ससार-समुद्र से पार हो जाता है।

ब्यावर
१९—१०—५६

अपनी शक्ति को पहचानो !

उपस्थित महानुभावो !

यह बात निर्विवाद रूप से शास्त्रसिद्ध और समस्त अध्यात्मवादियो मे प्रसिद्ध है कि आत्मा अनन्त शक्तियो का पुञ्ज है, अनन्त सामर्थ्य का आगार है। इस आत्मा को कही बाहर से शक्ति ढूढ कर लाने की आवश्यकता नही है। जिसके घर मे नही होता, उसी को बाहर से लाने की आवश्यकता पडती है। किन्तु खेद की बात यह है कि आत्मा ने अपने असीम वैभव को पहचाना नही है, अतएव भीतर मे आनन्द की परिपूर्ण सामग्री होने पर भी यह दूसरे के घर जाकर माँगता फिरता है।

बात यह है कि बहुत से लोग आलसी, दरिद्री और पुरुषार्थ हीन होते है। उनकी आदत कुछ ऐसी होती है कि उन्हे कमा कर खाना भी मुश्किल हो जाता है और गौरव के साथ जीने मे भी मुश्किल होती है। उनका जीवन दूसरो की दृष्टि मे भले ही तिरस्कृत एव अपमानित ही क्यो न हो और घर पर जाने पर उन्हे दो-चार गालियाँ ही क्यो न मिले, किन्तु वे इतने दीन और स्वाभिमानहीन हो जाते है कि उस तिरस्कार की परवाह नही करते। वे यही कह कर सन्तोष ग्रहण कर लेते है कि—इसमे क्या है ! हमारा क्या बिगड गया ! मगर जो इज्जतदार है, जो गौरववान् है और जिसे स्वाभिमान का भान है, वह हरगिज अपमान को सहन नही करेगा।

तो तथ्य यह है कि वह अपने सामर्थ्य को विस्मृत कर बैठा है। पास मे पूँजी होने पर भी दूसरो से मॉगने का आदी हो गया है।

एक रक होता है, दूसरा कृपण होता है। जिसके पास जीवनोपयोगी साधन नही होते, उसे रक कहते है। वह अपनी उदरपूर्ति के लिए दूसरो से भीख मॉगता है। उसका मॉगना दूसरो को सहन हो जाता है। अगर याचक का शरीर भी साथ नही देता तो उसकी दयनीय दशा देख कर लोग सोच लेते है कि इसके लिए दूसरा कोई चारा नही है और उसकी याचना को भी यथाशक्य पूरी कर देते है।

मगर कृपण के पास सब कुछ होता है। वह जीवनोपयोगी साधनो से रिक्त नही होता। किन्तु उन्हे वह अपनी कृपणता के कारण दबाये रखता है और काम मे नही लाता है। वह सोचता है कि बाहर से जो मिल जाय वही भला है। भागते भूत की लगोटी ही भली है।

तो जिसका जीवन इस प्रकार ढीठ बन जाता है, वह तिरस्कृत जीवन व्यतीत करता हुआ भी, दूसरो से याचना करता हुआ भी लज्जित नही होता।

मै कह रहा था कि यह जीव रक नही है, अर्थात् इसको किसी प्रकार का अभाव नही है बल्कि यह अनन्त निधियो का स्वामी है, फिर भी कृपणवत् बन रहा है। यह अपने भीतर छिपी निधि को काम मे नही लाता है और दूसरे के द्वार पर जाकर याचना करता है, ऐसे कृपण एक-दो नही है। उनकी सूची बनाना भी कठिन है।

सूची तैयार करने के लिए इतने मुनीम और गुमाश्ता लाएँ भी तो कहाँ से लाए ? इतना कागज तथा स्याही भी जुटाएँ तो कैसे जुटाएँ । कुछ उगलियो पर गिनने योग्य जीवो को छोड कर मुझे तो ऐसे कृपण ही कृपण नजर आते है । आत्मीयगुणसत्ता से धनी सब है, कगाल कोई नही है ।

सज्जनो ! ये जीवात्माएँ अनन्त वल, वीर्य, ज्ञान, दर्शन की अधिपति होती हुई भी स्वकीय शक्तियो का उपयोग न करती हुई वाहर की शक्तियो को काम मे लाने की कोशिश करती है। कोई रूस की तरफ तो कोई अमेरिका की तरफ आशा लगाए वैठा है कि उनसे गुटवन्दी कर लेगे तो वे हमारे काम आएँगे । इस प्रकार की गुटवन्दियाँ शक्ति प्राप्त करने के लिए ही की जाती है । किन्तु जो व्यक्ति अथवा राष्ट्र दूसरे के वल पर जिन्दा रहता है, वह जिन्दा नही है । वह जीता हुआ भी मुर्दे के समान है । समय आने पर उन्हे पता लग जाएगा कि मामा का हाथ कैसा है ? एक ने अपनी माता से कहा—माँ, माँ, मामा जी के हाथ तो वडे सुकुमार है । तव माँ ने कहा—वेटा, जव तक चाँटा नही लगा है तभी तक सुकुमार है ।

सयोगवश उसी दिन भाणेज से कोई भूल हो गई तो मामा ने ऐसा चाटा लगाया कि गाल पर पाँचो उगलियाँ उभर आई । तव भाणेज ने अपनी मा से कहा—मामा जी का हाथ तो वज्र-सा है ।

जो ऊपर से कोमल और दयालु दिखाई देते है, उन्हे वदलते भी देर नही लगती । उस समय अपनी ही शक्ति काम मे आती है।

जो दूसरे के बल पर जीते है वे अपने स्वाभिमान का दिवाला निकाले हुए कायर होते है।

तो सब प्रकार की अनन्त शक्तियाँ होने पर भी यह आत्मा कृपण बन रहा है। इसने अपनी निजी निधियो को काम, क्रोध, मद, मोह, राग-द्वेष की मिट्टी डाल कर दबा दिया है और दूसरो से भीख माँग-माँग कर अपनी आजीविका चलाता है। किन्तु माँग कर आजीविका चलाने मात्र से आत्मा मे स्वाभिमान की जो झकार होती है, वह नष्ट हो जाती है और वह कान्ति, वह वीर्य और वह वीरो वाली हुङ्कार भी नष्ट हो जाती है। अतएव मनुष्य चाहे थोडा ही जिए किन्तु स्वाभिमानी बन कर जिये।

हे आत्मन् ! भली-भाति समझ ले। जब तक तू अपनी निधि को, जिसके ऊपर तूने अज्ञानवश काम, क्रोध आदि की मोटी-मोटी शिलाएं जमा रक्खी है उन्हे हटा कर, काम मे नही लाएगा, तब तक तेरा दारिद्रय दूर नही होगा। जो अपनी ही शक्ति पर भरोसा रखते है और उसी के बल पर जीवन निर्वाह करते है, उन्हे ऐसी शक्ति प्राप्त होती रहती है कि फिर किसी के आगे हाथ पसारने की आवश्यकता ही नही रह जाती। ऐसी शक्ति हमारे पास मौजूद है, किन्तु उस पर तीन दोषो का आवरण आया हुआ है, जिससे वह शक्ति प्रकट नही होने पाती। वे तीन दोष है—आवरण दोष, मलदोष और विक्षेप दोष। ये त्रिदोष है और इन्हे राग, द्वेष तथा मिथ्यात्व के नाम से कहने मे भी कोई अनौचित्य नही है।

वैष्णवधर्म मे जिसे आवरणदोष कहा जाता है, उसका भी अर्थ गुणो पर आवरण आ जाना है। आँखो मे स्वभावत. रोशनी

होती है परन्तु पट्टी बाँध देने से वह छिप जाती है और उन आँखो मे रोशनी विद्यमान रहने पर भी ससार के पदार्थो का अवलोकन नही किया जा सकता। जैन शास्त्रो मे आठ प्रकार के आवरणो का निरूपण है जो आत्मा के नैसर्गिक गुणो को आच्छादित किये हुए है। उनमे प्रथम ज्ञानावरण है जिसने आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत कर रक्खा है। दर्शनावरण ने देखने की अनन्त शक्ति को—केवल-दर्शन की शक्ति को—जिसके द्वारा यह आत्मा लोकालोक के भावो को अपने स्थान पर स्थित रह कर देख सकता है, आच्छादित कर दिया है। वेदनीय कर्म ने आत्मा के अनन्त आनन्दस्वरूप को लूट लिया है। इस कर्म ने अनन्त आनन्द के अक्षय भडार आत्मा मे दु ख का विकार उत्पन्न कर दिया है।

अपने स्वरूप को भूल जाना और गैरो से मुहव्वत लगा देना मोहनीय कर्म की मदिरा का काम है। जैसे शराबी शराब पीकर आत्मविस्मृत हो जाता है और अपना माल लूटने वाले दुश्मनो को भी मित्र समझकर उनका स्वागत करता है, उसी प्रकार मोह के वशवर्त्ती हो कर ससारी प्राणी अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है और परपदार्थो के प्रति आसक्ति धारण करता है। मोह का ही यह प्रभाव है कि जीव ज्ञान-दर्शन-चरित्र जैसे मित्रो को छोड कर राग, द्वेष और मिथ्यात्व रूपी शत्रुओ के साथ प्रीति कर रहा है और उन्हे अपना समझ रहा है।

किन्तु शराबी अपने शत्रुओ को तभी तक मित्र मानता है जब तक उसका नशा नही उतर जाता। नशा उतर जाने पर उसकी आँखे सही रूप मे काम करने लगती है। फिर वह शत्रु को शत्रु और मित्र को मित्र समझने लगता है। इसी प्रकार जब तक मोह की

मादकता का प्रभाव है तब तक ही जीव की विडम्बना है। मोह का नशा उतर जाने के पश्चात् जीव सही राह पर आ जाता है और उसका विवेक जाग उठता है।

आयु कर्म इस स्वतन्त्र आत्मा को बधन मे डाल देता है और अमुक काल तक एक ही शरीर मे बाँध रखता है। खोडे या कारागार मे से कोई कैदी कदाचित् सिफारिश, जमानत या रिश्वत देकर छूट भी जाय, मगर आयु कर्म के खोडे मे पडा हुआ प्राणी पूरे आयु कर्म को भोगने से पहले किसी भी प्रकार नही छूट सकता। उसे सुख-दु ख पूर्वक आयु कर्म को भोगना ही पडेगा।

जब भगवान् महावीर का निर्वाण होने लगा तो इन्द्र ने निवेदन किया—भगवन् ! भस्मक ग्रह का योग है, अत. अपनी थोडी-सी आयु बढा लीजिए। ऐसा करने से इस दुष्ट ग्रह का होने वाला दुष्परिणाम टल जायगा। तब भगवान् ने उत्तर दिया—हे इन्द्र ! मुझमे तो क्या, अनन्त चौवीसियो मे भी यह शक्ति नही कि किसी की आयु मे एक क्षण की भी वृद्धि कर सके।

सज्जनो ! आयु कर्म के जो पलिक जीव ने बाँधे है, उन्हे पूरा भोगना ही पडता है। हाँ, एक बात है और वह यह कि ज्ञानी उस अवधि को समभाव से भोग लेते हैं और अज्ञानी रो-रो कर भोगते है। ज्ञानी प्रत्येक परिस्थिति मे अपने समभाव का परित्याग नही करता। वह सुख-दु ख मे समान-भाव रखता है। वह जानता है कि मैने जो कर्म बाँधे है, उन्हे मुझे ही भोगना पडेगा। अगर आकुल-व्याकुल हो कर भोगे तो आगे के लिए पुन नूतन कर्मों का बध हो जायगा।

कर्मो का भोग तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनो को ही भोगना पडता है, किन्तु अज्ञानी आर्त्तध्यान करके और नये चिकने कर्म बाँध लेता है। मान लीजिए, किसी को किसी का कर्ज चुकाना है तो यदि उसे ठीक तरह प्रसन्नतापूर्वक दे दिया जाय तब भी देना पडा और यदि घर पर आये हुए को गाली-गलौज करके या मार-पीट करके चुकाया तब भी चुकाना पडेगा। मगर अन्तिम तरीके से जेलखाना और नफे मे होगा।

इसी प्रकार दुःख के समय जो रोते है, कलपते है, हाय-हाय करते है, आर्त्तध्यान करते है, वे और अधिक नवीन कर्म बाँध रहे है। जो इष्ट का वियोग और अनिष्ट का सयोग मिलने पर आर्त्त-ध्यान करते है, विलाप करते है, उसका कोई शुभ परिणाम नही निकलने वाला है बल्कि विपरीत ही परिणाम निकलेगा। क्योकि तूने यदि इष्ट वस्तु प्राप्त होने योग्य कर्म बाँधे होगे तो वह अवश्य मिलेगी, और यदि ऐसे शुभ कर्म ही नही किये तो तू भले तडफ-तडफ कर ही क्यो न मर जाय, वह मिलने वाली नही है।

तू नही चाहता कि अनिष्ट का सयोग हो, किन्तु यदि तूने अशुभ कर्मो का बन्धन किया है तो वह अवश्यभावी है। तू उसे कैसे रोक सकता है? ज्यो-ज्यो तू अनिष्ट वस्तुओ के वियोग के लिए रोएगा त्यो-त्यो वे अधिकाधिक सन्निकट आएँगी और वह कष्ट असह्य हो जायगा।

ज्ञानी जन दोनो अवस्थाओ मे समभाव रखते है। इष्ट वस्तु मिल गई तो वे मानते है—यह मेरे शुभ कर्मो का फल है। कदाचित् अनिष्ट की प्राप्ति हो गई तब भी अपने ही अशुभ कर्मो का फल मान कर सन्तोष धारण करते है।

भाइयो ! हमारे पास कई तरह के लोग आते है और प्रसग-वश अपना-अपना दुखडा रोते है। किसी को धनाभाव का कष्ट है। किसी को पारिवारिक कष्ट है। किसी को और ही कोई कष्ट है। इससे प्रतीत होता है कि इस ससार मे किसी को पूरा सुख और सन्तोप नही है। वास्तव मे ससार दु खमय है। और इस काल-आरे का तो नाम ही दु खमय आरा है। सुख के जमाने लद गये, बहुत पीछे रह गये। अब उनका हाथ आना वहुत कठिन है।

शास्त्र मे प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवर्सर्पिणी काल के छह-छह जमाने - आरे माने गए है। उतार-चढाव के कारण काल कुए मे घूमने वाली माल की तरह चक्कर काटता रहता है और न इसका आदि है, न अन्त है। जैसे माल की घडियाँ ऊपर-नीचे आती-जाती रहती है और माल दिन भर घूमती रहती है, नही कहा जा सकता कि कौन-सी घडियाँ पहले आई और कौन सी पीछे आई, इसी प्रकार इस काल चक्र का भी आदि-अन्त काल नही निश्चित हो सकता। कौन-सा काल पहले और कौन-सा पीछे आया यह नही कहा जा सकता। परिवर्तन का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है।

अवसर्पिणी काल के पहले जमाने का नाम सुखमासुखमा था। जैसा उसका नाम था वैसा ही उसका गुण भी था। उदाहरणार्थ जिस समय किसी के घर मे धन है। उसे पुत्र की भी प्राप्ति हो गई, प्रतिष्ठा भी मिल गई और फिर ऊँचा पद भी मिल गया, तो समभा जाता है कि सुख मे सुख हो गया। एक सुख मे दूसरे सुख का मिलते जाना सुखमासुखमा है। यह जमाना—पीरियड—आरा छोटा नही है, चार कोडाकोडी सागरोपम जितना लम्बा है। वडा दीर्घ काल है।

आप सोचते होगे कि यह सागरोपम क्या है ? सज्जनो ! शास्त्र मे सागर की व्याख्या की गई है। उसे स्थूल रूप मे समझाने का प्रयत्न करता हूँ।

एक करोड से एक करोड का गुणाकार करने पर जो राशि लब्ध होती है, वह कोडाकोडी कहलाती है। इस प्रकार दस कोडा-कोडी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

प्रश्न हो सकता है कि पल्योपम क्या है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—

एक कोस गहरा, चार कोस चौडा एक कुआ हो। उसमे युगलिया मनुष्यो के तत्काल जन्मे हुए वालक के वाल वारीक करके ठास-ठास कर भर दिये जाएँ और वह इतना सख्त हो जाय कि उसके ऊपर से चक्रवर्त्ती की सेना निकल जाने पर भी किसी प्रकार का दवाव न आवे। जैसे जीनिग फैक्टरी मे रूई की गाठे ऐसी दवा कर वाँधी जाती है कि सहसा पानी और आग का भी उसमे प्रवेश नही हो सकता। इसी प्रकार सख्ती से कुआ भर जाने के पश्चात् सौ-सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर वाल का एक-एक कण निकाला जाए। निकालते-निकालते जितने समय मे वह कुआ पूर तरह खाली हो जाय, उतना ही समय एक पल्योपम कहलाया करता है।

सज्जनो ! ऐसा गड्ढा-कुआ न तो किसी ने भरा है और न कोई भरेगा, केवलज्ञानियो ने काल की दीर्घता को मोटे रूप मे जनसाधारण को समझाने के लिए एक उदाहरण उपस्थित किया है।

युगलिया मनुष्यो के बालो से उस गड्हे को भरने का जो कथन किया गया है, उसका भी एक प्रयोजन है। युगलियो के जोड़ा ही उत्पन्न होता है। उनके जीवन मे कोई दस-बीस बच्चे पैदा नही होते कि कोई चो करे, कोई चू करे, कोई टट्टी और पेशाब करे, जैसी कि आजकल रचना देखी जाती है। भोगभूमि मे ऐसी विडम्बना नही होती। वहाँ का युगल दम्पती जीवन मे सिर्फ एक बार एक युगल को जन्म देता है।

हम एक बार नागौर से विहार करके मेडता की ओर जा रहे थे। मेडता स्टेशन पर एक बाबू के मकान मे ठहरे। बाबू जोधपुर का जैन था। हम वहाँ ठहर तो गए पर बच्चो की च्याऊ-म्याऊ देख कर हैरान रह गये और सोचने लगे—कब दोपहर ढले और कब यहाँ से रवाना हों। दोपहरी ढली तो हम ने बाबू जी से कहा—बाबू जी, हम तो जाते है।

सज्जनो! गटर—गदी मोरी का कीडा गटर मे ही खुशी मानता है। मगर वाटिका मे विहार करने वाले और कुसुमो का सौरभ ग्रहण करने वाले भ्रमर को वह बदबू कब पसन्द हो सकती है?

तो मै कह रहा था कि वह युगलिक काल कभी यहाँ भी था। मगर परिस्थितियाँ पलटती रहती है। धीरे-धीरे परिवर्तन होते-होते वह काल पूरी तरह समाप्त हो गया और नए प्रकार का जमाना आ गया।

इस भूतल पर १०१ क्षेत्र मनुष्यो के है, अर्थात् १०१ क्षेत्र ही ऐसे है जहाँ मनुष्यो का जन्म एव रहन-सहन होता है। इनके

अतिरिक्त इस मेदनी पर अन्य असख्य क्षेत्र—द्वीप—है, मगर वहाँ मनुष्य नही, केवल पशु-पक्षी आदि है। यह बात अलग है कि कोई मनुष्य वहाँ विद्या के बल से चला जाए या देवता उठा कर ले जाए और वहाँ फेक दे।

तो मै कह रहा था कि अति सन्तान का होना भी जीवन की बडी विडम्बना है। बेचारी गृहिणी को टट्टी-पेशाब की सफाई करते-करते हैरान हो जाना पड़ता है।

पजाब प्रदेश के रोहतक जिले मे झज्जर नामक एक कस्बा है। हम वहाँ गए तो एक जैन तहसीलदार साहब की पत्नी हमारे पास आई और कहने लगी—महाराज, मैने अठारह पुत्रो को जन्म दिया, पर आज एक भी जीवित नही है। हाँ, एक लड़के की शादी हुई थी और उसकी बालिका मौजूद है। मल-मूत्र उठाते-उठाते ही मेरी जिदगी बीती, सुख कुछ भी न मिला।

मतलब यह है कि वे बदला लेने आये थे सो लेकर चले गए। कोई पुत्र, कोई पुत्री, कोई भाई-बहिन, माता-पिता बन कर बदला लेता है। तो जिन वस्तुओ मे तुम आसक्त हो रहे हो, वे जीवन का त्राण करने वाली वस्तुए नही है।

महात्मा बुद्ध को द्वारपाल ने आकर सूचना दी—आपके पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। अन्नदाता, बहुत-बहुत बधाइयाँ स्वीकार कीजिए।

बुद्ध ने यह सम्वाद सुन कर कहा - चलो, मेरे पैरो मे एक बेड़ी और पड़ गई।

हां तो युगलियो मे एक ही वार युगल सन्तान उत्पन्न होती है और उसका थोडे दिन ही पालन-पोपण करना पडता है। युगलियो की मृत्यु भी कितनी सुखपूर्वक और सहसा होती है! एक को छीक आती है और दूसरे को उवासी (जभाई) आती है और दोनो एक साथ मर जाते है। उन्हे इस समय के लोगो की भाँति खाट पर पडे-पडे रोते-झीकते नही मरना पडता। जीवाभिगमसूत्र और प्रश्न-व्याकरणसूत्र मे उल्लेख है कि युगलिया प्रकृति से बड़े भद्र होते है, विनयशील होते है और उनके काम, क्रोध, मद, लोभ, राग, द्वेप बहुत पतले होते है। वे पूर्ण आर्य होते है। चुगली करना नही जानते।

क्या कहा जाए, जमाने की विधि वडी विचित्र है। युगलियो का समय इतना सुन्दर होता है कि मनुष्य तो आर्य होते ही है, किन्तु उस समय के शेर और भेडिये भी आर्य होते है। वे किसी को कष्ट नही पहुँचाते। मासाहारी नही वल्कि शाकाहारी होते हे। वे पशु भी युगल ही होते है। एक ही युगल को जन्म देते है—रेवड की रेवड - फौज नही जन्मती। केवल फल-फूल खाते है। कल्पवृक्षो से उनकी कामना पूरी हो जाती है। उनका आपस मे कोई क्लेश, द्वेप, रोप या झगडा-झझट नही होता। सव अपने-अपने हाल मे मस्त रहते हैं। उनकी तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु होती हे। अतिशय सुन्दर और सुरूप होते है।

एक सौ एक क्षेत्रो मे से ८६ क्षेत्र तो युगलियो के है अर्थात् अकर्मभूमि के है और १५ कर्मभूमि के है।

तो कर्मभूमि के कुल १५ क्षेत्र है। इन क्षेत्रो मे असि, मपि और कृषि आजीविका के प्रधान साधन होते है। अर्थात् यहाँ शस्त्र,

अतिरिक्त इस मेदनी पर अन्य असख्य क्षेत्र—द्वीप—है, मगर वहॉ मनुष्य नही, केवल पशु-पक्षी आदि है। यह बात अलग है कि कोई मनुष्य वहॉ विद्या के बल से चला जाए या देवता उठा कर ले जाए और वहॉ फेक दे।

तो मै कह रहा था कि अति सन्तान का होना भी जीवन की बडी विडम्बना है। बेचारी गृहिणी को टट्टी-पेशाब की सफाई करते-करते हैरान हो जाना पडता है।

पजाब प्रदेश के रोहतक जिले मे झज्जर नामक एक कस्बा है। हम वहॉ गए तो एक जैन तहसीलदार साहब की पत्नी हमारे पास आई और कहने लगी—महाराज, मैने अठारह पुत्रो को जन्म दिया, पर आज एक भी जीवित नही है। हॉ, एक लड़के की शादी हुई थी और उसकी बालिका मौजूद है। मल-मूत्र उठाते-उठाते ही मेरी जिदगी बीती, सुख कुछ भी न मिला।

मतलब यह है कि वे बदला लेने आये थे सो लेकर चले गए। कोई पुत्र, कोई पुत्री, कोई भाई-बहिन, माता-पिता बन कर बदला लेता है। तो जिन वस्तुओ मे तुम आसक्त हो रहे हो, वे जीवन का त्राण करने वाली वस्तुए नही है।

महात्मा बुद्ध को द्वारपाल ने आकर सूचना दी—आपके पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। अन्नदाता, बहुत-बहुत बधाइयॉ स्वीकार कीजिए।

बुद्ध ने यह सम्वाद सुन कर कहा—चलो, मेरे पैरो मे एक बेडी और पड़ गई!

हाँ तो युगलियो मे एक ही वार युगल सन्तान उत्पन्न होती है और उसका थोडे दिन ही पालन-पोषण करना पडता है। युगलियो की मृत्यु भी कितनी सुखपूर्वक और सहसा होती है ! एक को छीक आती है और दूसरे को उबासी (जभाई) आती है और दोनो एक साथ मर जाते है। उन्हे इस समय के लोगो की भाँति खाट पर पडे-पडे रोते-झीकते नही मरना पडता। जीवाभिगमसूत्र और प्रश्न-व्याकरणसूत्र मे उल्लेख है कि युगलिया प्रकृति से वडे भद्र होते है, विनयशील होते है और उनके काम, क्रोध, मद, लोभ, राग, द्वेष वहुत पतले होते है। वे पूर्ण आर्य होते है। चुगली करना नही जानते।

क्या कहा जाए, जमाने की विधि वडी विचित्र है। युगलियो का समय इतना सुन्दर होता है कि मनुष्य तो आर्य होते ही है, किन्तु उस समय के शेर और भेडियें भी आर्य होते है। वे किसी को कष्ट नही पहुँचाते। मासाहारी नही वल्कि शाकाहारी होते है। वे पशु भी युगल ही होते है। एक ही युगल को जन्म देते है—रेवड की रेवड- फौज नही जन्मती। केवल फल-फूल खाते है। कल्पवृक्षो से उनकी कामना पूरी हो जाती है। उनका आपस मे कोई क्लेश, द्वेष, रोष या झगडा-झझट नही होता। सव अपने-अपने हाल मे मस्त रहते है। उनकी तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु होती है। अतिशय सुन्दर और सुरूप होते है।

एक सौ एक क्षेत्रो मे से ८६ क्षेत्र तो युगलियो के है अर्थात् अकर्मभूमि के है ओर १५ कर्मभूमि के है।

तो कर्मभूमि के कुल १५ क्षेत्र हे। इन क्षेत्रो मे असि, मषि और कृषि आजीविका के प्रधान साधन होते है। अर्थात् यहाँ शस्त्र,

स्याही और खेती से काम लिया जाता है। कर्मभूमि के जीव इन कर्मों से अपना जीवन निर्वाह करते है। अकर्मभूमि मे जो युगल होते है, उन्हे इन कर्मो मे से किसी की आवश्यकता नही होती। न शस्त्र चलाना पडता है, न पढना-लिखना होता है और न खेती-पाती करनी पडती है। कल्पवृक्षो से अनायास ही उनकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होतीं रहती हैं। वस्तुएँ इतनी बहुतायत से होती है कि उनका उपयोग भी पूरा नही हो पाता। अभाव का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नही होता।

मगर आज यहाँ मनुष्यो मे पुण्य की कमी और पाप की अधिकता है। इसी कारण उन्हे भाँति-भाँति के कष्ट उठाने पडते है।

युगलिया लघुकर्मी होते है। पुण्य के प्रताप से उनके सिर के बाल भी बहुत मुलायम होते है। यहाँ तो कइयो के बाल ऐसे कठोर होते है मानो शूकर के बाल हो! खास तौर से युगलियो के बालक के बाल अत्यन्त मुलायम और पतले होते है। यही कारण है कि सागरोपम और पल्योपम का परिमाण बतलाने के लिए युगलियो के बालक के बालो को भरने का कथन किया गया है।

सागरोपम और पल्योपम का समय इतना लम्बा है कि उसे अङ्को से समझना सम्भव नही है, अतएव उपमा द्वारा समझा गया है। इसी कारण उसके लिए पल्योपम और सागरोपम जैसे शब्दो का प्रयोग किया गया है।

तो पहला सुखमासुखमा आरा चार कोडाकोडी सागरोपम का होता हे। कितना लम्बा काल है यह! मगर वह भी हँसते, खेलते,

कूदते, जन्मते-मरते बीतगया। उसके बाद दूसरा आरा—जमाना—'सुखम' नाम से आया। वह भी तीन कोड़ाकोडी सागरोपम का था और वह भी इसी प्रकार गुजर गया। तदनन्तर तीसरा 'सुखमदुखम' नामक दो कोडाकोडी सागरोपम का आरा आया और धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गया। तब दुखमसुखम नामक चौथा जमाना शुरू हुआ। उसमे दु ख अधिक और सुख कम रह गया। फिर भी कुछ अशो मे सुख था। वह ४२००० वर्ष कम का एक कोडाकोडी सागरोपम का काल पार हो गया। उसे भी हमने विषयवासनाओ की पूर्ति मे गॅवा दिया। धन-सम्पत्ति और कुटुम्ब-परिवार के मोह मे पड कर वृथा खो दिया।

उसके बाद यह पाँचवाँ आरा आया है। इसका नाम 'दुखम' है। इसमे जिधर भी देखो, दु ख ही दु ख दृष्टिगोचर होता है। सभी दु ख का अनुभव करते है। जिसे आप सबसे अधिक सुखी समझते है, उससे एकान्त मे जाकर पूछिये कि क्या आप वास्तव मे सुखी है ? वह यदि प्रामाणिक है तो यही कहेगा कि—काहे का सुख है भाई ! चारो ओर से दु ख ने घेर रक्खा है। कदाचित् वह यह भी कह देगा—मुझ से तो गटर के कीडे को कही अधिक सुख है। कवि ने कितना सुन्दर चित्रण किया है ससार का—

> किसी का भाई वैरी है, किसी की नार कलिहारी है।
> कोई दिन नार व्याकुल है, कोई मन मार रोता है।
> फँसे दुनिया मे जो मूरख, सदा नाशाद होता है।
> इसे जो छोड देता है, वही दिल, शाद होता है।।

सज्जनो ! यह दुनिया दु खो का घर है। किसी को कोई दुख है तो किसी को किसी बात का दु ख है। किसी का भाई ही वैरी

बना हुआ है । अपने भाई को देख कर उसकी आँखो मे खून टपकने लगता है ! किसी का भाई ठीक है तो स्त्री कलहकारिणी है, बात-बात मे झगडा करने पर उतारू हो जाती है । पति घर मे रोटी जीमने आता है तो कहने लगती है—तुम्हारी टागे जलाऊँ चूल्हे मे या सिर ? अभी तक लकडियाँ भी लेकर नही आये । रसोई बनाऊँ तो काहे से बनाऊँ ? इस प्रकार श्रीमती जी फुलझडियाँ छोडने लगती है, किन्तु मीठे शब्दो से काम नही लेती । और भी कहा है—

दाल तो चोखी कर राखी,
बीच भूड और बीच ही माखी ।
सब से पहले उसने चाखी,
लीजे मुख मे डारी ।
जिसके घर कलिहारी नारी,
शूली से दुख भारी ।

सज्जनो ! जगदम्बा भी श्रीमान् जी को ऐसी मिली पूर्व जन्म मे पुण्य मे कमी रह जाने से कि उसने दाल तो इतनी बढिया बना दी कि जिसके बीच मे मक्खी और भूड तेरते है ।

किन्तु हमे तस्वीर के दोनो पहलू देखने चाहिये । जहाँ कलह-मूर्ति स्त्री से पुरुष दुखी है वहाँ एक पतिव्रता सन्नारी भी दुरा-चारी, दुर्व्यसनी पति से दुखी है । वह वेश्याओ के घर पडा रहता है, शराब पीता है और घर मे बाल-बच्चे भूखे बिलबिलाते है । व अपनी जिम्मेदारी को नही समझता । अपने ही ऐश-आराम मे मस्त रहता है । जिसका विवाह हो चुका है वह तो इस प्रकार दुखी है और जिसका विवाह नही हुआ वह विवाह के लिए झूरता है ।

सोचता है—हाय, मै दुनिया से खाली हाथ ही चला जाऊँगा। अरे दुनिया के लोगो! जरा गहराई से विचार तो करो कि—

अगर दुनिया मे सुख होता तो तीर्थंकर नही तजते।
विना ससार के त्यागे, नही आराम होता है॥

भाइयो! ससार की मृगतृष्णा को त्यागे विना कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस ससार मे और फिर इस दुखम आरे मे तो दुख ही दुख है। किसी को पुत्र की प्राप्ति नही हुई तो उसे पुत्रहीनता का दुख है। किसी को पुत्र हुआ किन्तु कुपूत हो गया या मर गया तो उसे और अधिक दुख हो गया, क्योकि पुत्र की अविनीतता और मृत्यु वडा भारी दुख है। जो पुत्र माता-पिता को गालियाँ देता और मारता है, ऐसी सन्तान के होने से भी क्या लाभ है?

तो यह दुखम आरा है और इसे प्रारम्भ हुए अभी २५०० के करीव वर्ष हुए है। शेप समय भी जैसे-तैसे गुजर जाएगा। मगर १८॥ हजार वर्षो के वाद आने वाला आरा तो दुखमादुखमा है। उस समय अन्न तो ढूढे भी नही मिलेगा और दुनिया की हालत अत्यन्त नाजुक हो जाएगी। उस समय प्रलय सा मच जाएगा। सज्जनो! अभी तो आप फिर भी भाग्यशाली है। अभी तो आत्म-साधना के वहुत साधन है। इस समय चेत गए और अपने जीवन को सुधार सके तो वेडा पार हो सकता है।

इस प्रकार इस जीव ने अनन्त-अनन्त कालचक्र पूरे कर दिये, मगर अभी तक आत्मोत्थान न कर सका। सव मिल कर दस कोडा-कोडी सागरोपम का यह अवसर्पिणी काल है और इतना ही उत्स-

पिणी काल है। दोनो मिल कर बीस कोडाकोडी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। अनन्त-अनन्त कालचक्र जब व्यतीत हो जाते है तब एक पुद्‌गलपरावर्तन होता है। पुद्‌गलपरावर्तन के भी सूक्ष्म और बाहर आदि के भेद से अनेक भेद होते है।

सज्जनो! ऐसे-ऐसे अनन्त पुद्‌गलपरावर्तन हमने पूरे कर दिये और जन्मते-मरते रहे, परन्तु आत्मा को सुधारने और उठाने का कार्य नही किया। मगर अब भी अवसर है। इसका सदुपयोग कर लेने से भी काम बन सकता है। अगर यह बाजी हाथ से निकल गई तो फिर कुछ होने वाला नही है। अतएव बूझो, भाइयो! बूझो और शीघ्र सचेत हो जाओ।

मगर जो लोभ मे अन्धा हो रहा है, वह कैसे बूझेगा? उसे समीचीन मार्ग कैसे सूझेगा? अरे, भाई भाई को, पुत्र पिता को, पिता पुत्र को और मित्र मित्र को लोभ के वशीभूत हो कर जान से मार देता है। यह लोभी सब गुणो का नाश कर देता है। आज लोभ ने मित्र की मित्रता, पुत्र का पुत्रत्व, पिता का पितृत्व, भाई का भ्रातृत्व और माता का मातृत्व नष्ट कर दिया है। वह लोभ के वश छिप-छिप कर पाप करता है। किन्तु याद रखना, पाप का भडा फूट कर ही रहेगा। मनुष्य कितना ही छिप कर पाप करे, मगर पाप छिपा नही रह सकता। प्रकट हो ही जाता है।

एक समय की बात है कि दो मित्र परदेश मे धन कमाने निकले। एक का नाम वामदेव और दूसरे का नाम रूपदेव था। परदेश जाकर दोनो ने भागीदारी मे व्यापार किया। लाभान्तराय के टूटने से उन्हे व्यापार मे लाभ ही लाभ होता गया, यहाँ तक की दोनो ने एक-एक लाख मोहरे कमा ली। पुण्य का उदय था तो कमा

लिया, अशुभ कर्म का उदय होता तो कुछ भी न मिलता। कहा है—

नर भाग्य विना फूटी कौडी न लाया।

सज्जनो ! यह मनुष्य मद्रास, कलकत्ता, वम्वई, दिल्ली आदि देश—विदेशो मे फिर आया, वहाँ व्यापार भी किया, पुरुपार्थ करने मे कुछ कसर न रक्खी, मगर जैसे फटे हाल गया था, वैसे ही वापिस आ गया।

तो यह सब अपनी-अपनी पुण्याई का खेल है। जिसने पूर्व जन्म मे, मुक्त हस्त से, उदारतापूर्वक दान की महिमा समझ कर दान दिया है, उसे रेत मे हाथ डालने पर भी सोना मिल जाता है। उन दोनो मित्रो ने एक-एक लाख मोहरे कमा लेने के पश्चात् विचार किया कि घर छोडे वहुत समय हो चुका है तो अव घर चल कर माता, पिता, स्त्री और वालवच्चो को सँभालना चाहिए। इस प्रकार विचार कर वे दोनो कमाई हुई मोहरे लेकर रवाना हुए।

पहले जमाने मे रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि साधन न होने के कारण आजकल की तरह यात्रा सुगम नही थी। पैदल या वैलगाडियो से या ऊँटो—घोडो से लम्वे समय मे यात्रा पूरी करनी पडती थी। परन्तु आज विज्ञान ने इतनी तरक्की कर ली है कि गत वर्ष दिल्ली मे जो प्रदर्शिनी हुई थी, उसमे एक ऐसी भी मशीन थी जिसमे रूस की रोज की सारी कार्यवाई छप कर सामने आ जाती थी।

आज की दुनिया मानो सुकुड़कर वहुत छोटी सी हो गई है। आज तो साधनो की इतनी वहुलता है कि जिनसे मनुष्य यहाँ वैठा-

बैठा ही दूर देशो से सम्पर्क कायम कर सकता है। पहले तो एक मनुष्य को दूसरे का पता लगाना भी मुश्किल होता था और आज हजारो कोसो पर बैठे हुए अपने मित्र या सम्बन्धी से बातचीत की जा सकती है और क्षेम-कुशल पूछी जा सकती है।

तो वे दोनो मित्र किसी सार्थ-काफले के साथ अपने घर की ओर वापिस लौट रहे थे। जब उनका गॉव कुछ ही कोसो की दूरी पर रह गया तो उन्होने काफला छोड दिया और अपने गॉव जाने वाला रास्ता पकड लिया। चलते-चलते दोनो ने रात्रि मे एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया।

रूपदेव ने वामदेव से कहा—तुम सो जाओ। मै जाग कर पहरा देता रहूँगा। चार घण्टे बाद तुम्हे जगा दूँगा। तब तुम पहरा देना और मै सो जाऊँगा।

वामदेव सो गया। थकावट के कारण वामदेव को गहरी नीद आ गई। उसे अपने मित्र पर पूरा विश्वास भी था, अतएव वह निश्चिन्त था। मन मे कोई शका नही थी।

इधर रूपदेव पहरा देने के लिए बैठ गया। बैठे-बैठे उसके मन मे शैतान ने प्रवेश किया, पाप ने आकर उसके दिमाग पर कब्जा जमा लिया। वह सोचने लगा—एक लाख मोहरे मेरे पास है और इतनी ही इस वामदेव के पास है। अगर मै वामदेव को खत्म कर दूं तो सहज ही मेरे पास दुगुना अर्थात् दो लाख मोहरे हो जाएँ।

इस प्रकार पापपूर्ण उत्कट भावना उत्पन्न होने पर लोभान्ध होकर वह छुरा लेकर वामदेव की छाती पर जा बैठा। छाती पर बैठते ही वामदेव की नीद खुल गई। उसने देखा—मेरा मित्र ही

छुरा लेकर मेरी छाती पर चढ बैठा है। तब उसने कहा—मित्र, यह क्या करते हो ?

रूपदेव—मै क्या करने जा रहा हूँ, यह तुम समझ गये हो। मै तुम्हे समाप्त कर दूँगा।

वामदेव—मित्र, हम दोनो साथ-साथ खेले-कूदे, बडे हुए और साथ-साथ कमाई करके घर लौट रहे है। फिर भी तू मेरे साथ विश्वासघात करने पर उतारू हो गया है ? भाई मैंने तेरा क्या बिगाडा है ? क्या पिछले जन्म का कोई बदला ले रहा है ? क्यो मानवता का दिवाला निकाल रहा है ? क्यो दानव बनता है ? जरा सोच—विचार कर तो देख ! कभी पछताना पडेगा भाई !

रूपदेव—मुझे मानवता और मैत्री नही चाहिए, तेरी लाख मोहरे चाहिए।

वामदेव—मोहरे भले ही ले ले। ये सब तेरी है। मै किसी पर यह बात प्रकट नही करूँगा, किन्तु मुझ पर दया कर। मेरे प्राण बचने दो और मुझे अपने माता-पिता तथा बालबच्चो से मिलने दे। वे मुझे न देख कर रो रो कर अन्धे हो जाएँगे।

मगर रूपदेव के सिर पर पाप का भूत सवार हो चुका था। अतएव उसे शुद्ध हृदय से कही गई ये बाते शकास्पद प्रतीत हुईं। उसने सोचा—यदि वामदेव जीवित रह गया तो मेरे पाप का भडा फूटे बिना नही रहेगा। इस प्रकार सोच कर उसने मित्र की प्रार्थना ठुकरा दी और उसकी छाती मे छुरा भौक ही दिया।

रूपदेव मित्र का काम तमाम करके, उसे एक गड्ढे मे डाल कर तथा दो लाख मोहरे लेकर रवाना हुआ।

मरने से पहले वामदेव ने रूपदेव से प्रार्थना की थी—मित्र, यदि मेरे प्राण लिए विना तुझे सन्तोष नही हो सकता, किन्तु घर वालो के सन्तोष के लिए मै चार अक्षर लिख देता हूँ। वह ले जा कर उन्हे दे देना।

रूपदेव ने यह स्वीकार करते हुए कहा—हाँ, यह तो मैं जरूर कर दूंगा।

वामदेव ने चार अक्षर लिख दिये—वा—रू—घो—त्या।

रूपदेव दो लाख मोहरे लेकर अपने घर आ गया। वामदेव की पत्नी को यह समाचार मिला तो वह उसके घर पहुँची। उसने पूछा—आपके साथी क्यो नही आये ?

रूपदेव—भाभी, उन्होने तो वडा लम्वा-चौडा कारवार वढा लिया है। वे वहुत दिनो बाद आएँगे। हाँ, उन्होने यह एक छोटा-सा पर्चा जरूर लिख कर दे दिया है और कह दिया है—इसे घर ले जा कर दे देना।

यह कह कर रूपदेव ने वह चार अक्षरो का पर्चा वामदेव की पत्नी को दे दिया। पर्चा लेकर वह घर गई। घरवालो ने उसे पढ कर समझने की कोशिश की पर वे समझ न सके। सिर्फ चार ही अक्षर थे और एक का दूसरे के साथ कुछ भी सम्वन्ध मालूम नही होता था।

वामदेव की पत्नी वहुत होशियार थी। उसे वहम आ गया कि हो न हो, दाल मे कुछ काला है। रूपदेव आ गया और मेरे पति न आये, इसमे अवश्य ही कुछ रहस्य होना चाहिए।

वह उस पर्चे को लेकर राजा के दरवार मे गई। राजा से आज्ञा लेकर उसने निवेदन किया—अन्नदाता! रूपदेव कमाई करके

परदेश से आ गया है, किन्तु मेरे पति नही आए। उनका पर्चा वह लाया है, जिसमे रहस्यमय ढग से लिखे चार अक्षरो का आशय समझ मे नही आता। अतएव मेरी विनम्र प्रार्थना है कि इस पर्चे का अर्थ दरबार के विद्वान् पण्डितो से करवाया जाय और इस अबला के प्रति न्याय किया जाए।

राजा ने वह पर्चा ले कर पण्डितो के सामने रक्खा और कहा—इसका सही अर्थ निकालना ही चाहिए।

सब पण्डितो ने बारी-बारी पर्चा पढा, किन्तु अर्थ समझने मे किसी का दिमाग कारगर न हुआ। यह देख कर राजा ने कहा—आप लोगो ने मेरा नमक खाया है। ऐसी-ऐसी समस्याओ को सुलझाने के लिए ही आपको वृत्ति दी जा रही है।

यह सुन कर पण्डित चिन्तातुर हो गए। उनमे एक पण्डित अत्यन्त कुशल और आशु कवि था। उसने सोचा—सब पण्डितो की नाक कटने का प्रसग उपस्थित हो गया है तो यह उत्तरदायित्व मुझे उठाना चाहिए। तब उसने कहा—महाराज, इसका अर्थ निकालना कोई बडी बात नही है। मै इसका अर्थ कर दूंगा।

यह कह कर उसने पर्चा हाथ मे लिया। ध्यान से पढा, अक्षरो का मिलान किया और फिर स्फुरणा से अक्षरो का अर्थ निकाला। वा—से वामदेव, रू—से रूपदेव, ला—से लाख मोहरे, घो—से घोर निन्द्रा। उसने उनके अर्थ का द्योतक एक श्लोक भी तत्काल बना डाला। वह कुछ इस प्रकार का था—

वामदेवो रूपदेव, द्वे मित्रे परस्परम्।
घोरनिन्द्रावशीभूत', लक्षलोभेन मारित ॥

राजा को अर्थ सुनाते हुए उसने कहा—राजन्, वामदेव और रूपदेव दो मित्र होने चाहिए। रूपदेव ने घोर निन्द्रा की अवस्था मे वामदेव को लाख मोहरो के लोभ मे आकर मार डाला।

यह अर्थ सुन कर वामदेव की पत्नी फूट-फूट कर रोने लगी। राजा ने उसे समझाया—वहिन जो होना था सो हो गया। गई हुई वह चीज वापिस आने वाली नहीं है। अब तो तुम अपने वृद्ध सास-श्वसुर की सेवा करो, उनके बुढापे को सुधारो और अपने होनहार बच्चो को सभालो और उनका जीवन बनाओ। उस दुष्ट को उसके घोर पाप का दण्ड अभी मिल जाएगा।

राजा ने अपने सिपाहियो को आज्ञा दी—आओ, उस पापी, विश्वासघाती और मित्रद्रोही रूपदेव को पकड कर ले जाओ।

उधर रूपदेव खुशियाँ मना रहा था। रगरेलियाँ कर रहा था। वह मित्र के घात का पातक करके प्रसन्न हो रहा है परन्तु उसे पता नही कि पापो के प्रकट होने मे देर कदाचित् हो जाए पर अधेर नही हो सकता।

सज्जनो! दूसरो को दुख देने से अगर सुख मिलता हो तो फिर अच्छे कर्म करने की आवश्यकता ही नही रह जाए?

हाँ, तो सिपाही रूपदेव के घर गए और मुश्के वाध कर राजदरवार मे लाये। राजा ने कहा—उस पर्चे का अर्थ निकाल लिया गया है।

यह सुनते ही रूपदेव का चेहरा फक् हो गया। भय उसकी आँखो मे तैरने लगा। निगाह नीची हो गई।

राजा को यह परिवर्तन देख कर विश्वास हो गया कि रूपदेव वास्तव मे पापी है। तव राजा ने प्रश्न किया—तूने वामदेव की हत्या की है ?

रूपदेव ने अपराध अस्वीकार करते हुए कहा—नही महाराज, मै क्या अपने मित्र की हत्या कर सकता हूँ ?

राजा ने सिपाहियो की ओर नजर करके कहा—यह सच नही कहेगा। इसे कोडे लगाए जाएँ।

सिपाही ने कोडे लगाने शुरू किए तो रूपदेव तिलमिला उठा। जब उससे कोडे सहन न हो सके तो बोला—महाराज, मै सच-सच कहे देता हूँ।

यह कह कर उसने आदि से अन्त तक की कहानी सुना दी। राजा ने वह वृत्तान्त सुन कर उस पण्डित को पर्याप्त पारितोपिक दिया और सव पण्डितो मे प्रधान बना दिया। उधर रूपदेव का सारा धन मँगवा कर वामदेव की पत्नी को सौप दिया और रूपदेव को प्राणदण्ड सुना दिया।

सज्जनो ! जो दूसरे का धन खाना चाहता था, वह अपना भी नही खा सका। इस कारण ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि राग-द्वेष जीवन को मलीन बनाने वाले है और इनकी वदौलत जीव को भव-भव मे दु ख उठाना पडता है। लाख मोहरो के लोभ राग ने ही रूपदेव को मित्र की हत्या के लिए प्रेरित किया और अन्त मे उसी के प्राण ले लिए गए। उसके वच्चो को भी दाने-दाने के लिए मोहताज होना पडा। अतएव राग और द्वेष आत्मा के प्रबल शत्रु है। आत्मा मे इन शत्रुओ पर विजय पाने की क्षमता है, शक्ति है, पर

वह उसका उपयोग नही करता। जब तक आत्मा अपनी शक्ति को प्रकट नही करेगा तब तक सच्चा सुख भी प्राप्त नही कर सकेगा। ऐसा समझ कर जो राग-द्वेष को दूर करते है और अपनी शक्ति को आत्मसाधना के लिए काम मे लाते है, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
२०—१०—५६ }

———

आत्मधन

उपस्थित महानुभावो !

कल वतलाया गया था कि आत्मा अनन्त गुणो की निधि है और उसे भीख माँगने के लिए कही अन्यत्र जाने की आवश्यकता नही है। आत्मा के पास इतना ऐश्वर्य और इतना धन है कि दुनिया इसके पास याचना करने के लिए आवे तो भी यह उसकी पूर्त्ति कर सकती है। इस प्रकार आत्मा रक तो नही, पर कृपण है। रक तो तव होती जब इसके पास कुछ होता नही। मगर इसके पास सभी कुछ है, फिर भी उसे अपने उपभोग मे नही ला रही है।

अपनी निधि को उपभोग मे न लाने के दो कारण होते है। प्रथम यह कि उसका ज्ञान ही न हो कि इसका उपभोग किस प्रकार किया जाय और दूसरा यह कि वोध हो जाने पर भी आत्मा मे इतनी उत्क्रान्ति न आई हो कि उदारतापूर्वक वह उपभोग कर सके।

तो कुछ जीव तो ऐसे होते है जिन्हे अपने धन का वोध ही नही। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक ही है कि वे आत्मीय गुणो का उपभोग नही कर पाते। ऐसे अज्ञानी जीवो की सख्या अधिक है— अनन्तानन्त जीव इस कोटि मे आते है। इस श्रेणी के वेचारे जीव अपने धन से आत्मिक गुणो से सर्वथा अनभिज्ञ है। उनकी आत्मा पर सघन अज्ञान का आवरण आया हुआ है। पृथ्वीकाय, अप्‌काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और

चतुरिन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय जीव इसी कोटि मे आते है। ये जीव आत्मधन को पहचान नही सकते, क्योकि इन्हे आत्मबोध के इतने साधन उपलब्ध नही है। आत्मबोध की बात तो दूर रही, उन्हे पर्याप्त शारीरिक बोध भी प्राप्त नही है।

जीव इन सब अवस्थाओ से पार होकर जब सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करता है, तब उसे पूरे साधन उपलब्ध होते है, क्योकि इस अवस्था मे पाँचो इन्द्रियाँ भी प्राप्त रहती है और मन भी। यद्यपि स्थावरो से आगे बढ कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अवस्था मे क्रमश एक-एक इन्द्रिय बढती जाती है, तथापि उनका ठीक तरह उपभोग नही हो सकता। इन्द्रियो का ठीक तरह सतुलन करने के लिए, उनसे विशिष्ट कार्य साधने के लिए और उनका पूरी तरह सदुपयोग करने के लिए मन की आवश्यकता होती है। मन ही इन्द्रियो के विज्ञान को ठीक दिशा मे ले जा सकता है। मन के अभाव मे एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीव अपनी-अपनी प्राप्त इन्द्रियो को काम लेते तो है, फिर भी उनमे विशिष्ट बोध की जागृति नही होती। उनकी इन्द्रियो मे एक प्रकार की शून्यता-सी व्यापी रहती है।

पागल मनुष्य काम तो आप से अधिक कर डालता है, परन्तु उसमे विवेक का पुट नही होता। वह विवेक के अभाव मे कदाचित् सही और कदाचित् गलत काम भी कर डालता है। दिमाग उसका ठीक तरह काम नही करता। यद्यपि वह आँखो से देखता है, जिह्वा से आस्वादन करता है और कानो से सुनता है, फिर भी उसमे विशिष्ट बोध नही है। उचित कार्यकुशलता नही है। इस प्रकार असज्ञी पचेन्द्रिय तक के प्राणी इन्द्रियो का उपयोग तो करते है, मगर उसी प्रकार जैसे शराबी शराब के नशे मे करता है।

ऐसे जीवो को विवेक प्राप्त नही। वे नही जानते कि मेरे कार्य का परिणाम हितकर होगा या अहितकर ? जो हो गया सो हो गया। इस प्रकार असज्ञी पचेन्द्रिय तक की श्रेणी के प्राणी अपने आत्मधन को नही पहचानते। ये असज्ञी जीव ज्यादा पुण्योपार्जन नही कर सकते तो अधिक पाप का भी उपार्जन नही कर सकते। यही कारण है कि वे यदि नरक मे जाते है तो प्रथम नरक तक ही जाते है और यदि देवगति मे जाएँ तो भवनपति या वाणव्यन्तर देव ही होते है। अधिक से अधिक पाप और पुण्य करने के लिए मन की आवश्यकता है। मन के अभाव मे पुण्य-पापकर्म मे गाढ़ापन और विशिष्ट रस नही आता। अतएव असज्ञी जीव न तो ज्योतिष्क वैमानिक देव हो सकते है और न दूसरे से सातवे नरक मे ही जा सकते है।

सज्जनो ! जब उन असज्ञी जीवो मे उच्च कोटि की देवगति मे जाने का भी सामर्थ्य नही विकसित हो पाता तो आप समझ सकते है कि मोक्ष मे जाना तो सभव ही कैसे हो सकता है ? मोक्ष तो उन देवलोको से भी बहुत ऊँचा है और उसके लिए कठिन और विशिष्ट साधना करनी पडती है।

तो आशय यह कि अनन्त जीवो को आत्मधन का बोध नही है। एकेन्द्रिय से लेकर असज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीव आत्मिक धन के बोध से बिलकुल वचित है। कदाचित् पुण्ययोग से जीव सज्ञी पचेन्द्रिय भी बन गया तो उसमे भी दो भेद है—पर्याप्त और अपर्याप्त। जो सज्ञी पचेन्द्रिय अपर्याप्त अवस्था मे है उन्हे भी पूरा प्राप्त नही होता। और कदाचित् पर्याप्त अवस्था मिल जाने पर भी परमाधामी देवयोनि मे जन्म हो गया तो भी क्या लाभ हुआ ?

उन्हे नारकीय जीवो की मारकाट करने से ही फुर्सत नही मिलती। नारक जीवो को दु ख ही देते रहते है और इसी प्रकार उनका सारा जीवन व्यतीत हो जाता है। इसी प्रकार नारक जीवो को भी पर्याप्ति सज्ञी पचेन्द्रिय अवस्था पर्याप्त हो, जाती है। मगर वे इतने घोर दु ख मे अपना लम्बा जीवन व्यतीत करते है कि क्षण भर के लिए भी आत्माभिमुख नही हो पाते। तीर्थंकर भगवान् के जन्मादि के समय थोडी देर के लिए चैन मिलती भी है तो भी पूरी नही मिलती, क्योकि उस समय भी क्षेत्रस्वभावजनित वेदना उन्हे सताती रहती है। उससे किसी समय उन्हे छुटकारा नही मिलता। अतएव वे दु खी जीव धर्माराधना नही कर सकते।

नरक गति से बच कर कदाचित् जीव देवगति मे चला जाय और पचेन्द्रिय सज्ञी पर्याप्त दशा प्राप्त कर ले तो धर्मसाधना से वचित रहता है, क्योकि देव अव्रती होते है। वे अधिक से अधिक चार गुणस्थान ही प्राप्त कर पाते है। आत्मसाधना की चौदह श्रेणियो मे से उन्हे चार ही श्रेणियाँ प्राप्त हो सकती है। इनसे बढने की शक्ति देवो मे नही होती। देवगति मे मिथ्यात्वी है सास्वादन सम्यग्दृष्टि है और मिश्रदृष्टि भी है। चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टियो का भी है। नारको, तिर्यञ्चो और देवो मे असख्यात मिश्रदृष्टि है। मनुष्यो मे मिश्रदृष्टि सख्यात है। यद्यपि सम्मूर्छिम मनुष्य असख्यात है, किन्तु वे एकान्तत मिथ्यादृष्टि हैं।

मिश्रदृष्टि वालो के विचार दोनो तरफ ढुलकते रहते है— कभी सम्यक्त्व की तरफ तो कभी मिथ्यात्व की तरफ झुकते है। कोरे चनो की रोटी होती है तो बनने के थोडी ही देर बाद ऐसी अकड जाती है जैसे मुर्दे का शरीर हो। किन्तु उसमे थोडा गेहूँ का

आटा मिला हो तो वह कुछ नरम रहती है। असज्ञी जीव तो एकान्त चने की रोटी के समान मिथ्यात्व मे ही पडे रहते है। पर मिश्रदृष्टि मे उससे वहुत कुछ अन्तर पड जाता है। यहाँ चनो मे गेहूँ का आटा मिल गया है।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि मिथ्यात्व अमावस्या की रात्रि है। उसमे भी वादलो की सघन घटा हो और किसी को तीसरे तहखाने मे वन्द कर दिया जाय तो चारो ओर निविड अन्धकार होता है। मिथ्यादृष्टि की अवस्था ऐसी ही वन जाती है। उनकी आत्मा मे महा अन्धकार छाया रहता है और थोडी-सी देर के लिए उन्हे आत्मभाव रूपी सूर्य के दर्शन नही होते।

तो भद्र पुरुषो ! यह जीव कदाचित् पुण्ययोग से देव भी वन गया तो भी इसे अधिक से अधिक चार ही गुणस्थान प्राप्त हो सकते है। इस दृष्टि से तिर्यच पशुओ का दर्जा कुछ ऊँचा है, क्योकि उनमे कोई पॉचवॉ गुणस्थान भी पा सकता है।

पॉचवे गुणस्थान मे देशविरति चारित्र की प्राप्ति होती है, क्योकि इस चारित्र का वाधक अप्रत्याख्यानावरण कषाय है और पॉचवे गुणस्थान मे उदय नही रहता। इस दृष्टि से तिर्यच भी देवो से ऊँचे हो जाते है। यद्यपि भौतिक सुखो की दृष्टि से देवो का स्थान वहुत ऊँचा है किन्तु आध्यात्मिक दुनिया मे भौतिक पदार्थों का कोई महत्त्व नही स्वीकार किया जाता।

सज्ञी पचेन्द्रिय मनुष्यो से श्रावक असख्यातगुणा अधिक है। अढाई द्वीप के सभी समयग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि और मिथ्यादृष्टि मनुष्यो की सख्या से श्रावक असख्यातगुणा अधिक है। इसका कारण यही

है कि श्रावक तिर्यञ्च भी हो सकते है। इस से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य श्रावको से तिर्यञ्च श्रावको का समूह वडा है।

तिर्यञ्च श्रावक एक, दो से लेकर ग्यारह व्रतो तक के धारक हो सकते है। केवल वारहवाँ व्रत ही ऐसा है, जिसका वे पालन नही कर सकते, क्योकि उनके पास 'असण, पाण, खाइय, साइय' आदि साधन नही होते। अलवत्ता, वे दलाली अवश्य कर सकते है, जैसे वलभद्र मुनि को हिरण ने जोगवाई लगाई थी। उसने खडे-खडे भावना भाई कि—हाय, मै अपने हाथ से महात्मा को दान न दे सका, क्योकि मेरे ऐसे साधन नही है।

तो मै कह रहा था कि देवताओ को यद्यपि वडे सुखसाधन प्राप्त है, फिर भी उनके स्वर्गीय सुखो से आत्मिक सुख का दर्जा वहुत ऊँचा है। स्वर्गीय सुख कितनी ही उच्चकोटि के क्यो न प्रतीत हो, अन्तत वे नाशवान् हे। स्थायी नही है। परावलम्वी है, स्वावलम्वी नही है और आत्मा को मलिन वनाने वाले है।

आयु पूर्ण होने पर देवता को जव स्वर्ग से च्युत होना पडता है तो छ महीने पूर्व ही उसे पता चल जाता है। पता चलते ही उसे कितनी मार्मिक वेदना होती होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। उस समय उसे राग-रग और नाटक आदि फीके लगने लगते है और केवल मृत्यु का भयावना चित्र ही उनके नेत्रो के सामने झूलता रहता है। भविष्य की अपावन स्थिति का विचार करके उनको मार्मिक व्यथा होती है। उनको जव रत्नो की ज्योति फीकी दिखाई देने लगती है और गले की माला मुरझाने लगती है तो उस दु ख

की सीमा नही रहती । यद्यपि न वहाँ के रत्न फीके पडते है और न माला मुरझाती है, पर उनकी दृष्टि मे ही ऐसा विकार उत्पन्न हो जाता है। छ महाने पूर्व ही नोटिस जारी हो जाता है—कि सावधान ! अब तुम्हे यहाँ से कूच करना होगा । तुमने पल्योपम और सागरोपम की लम्बी आयु भोग ली है और जो पुण्य-पूजी सचित कर के लाये थे, वह समाप्त हो चुकी है । अब यहाँ रहने का तुम्हे अधिकार नही रहा है। किराये का मकान किराया न चुका सकने पर जैसे विवशतापूर्वक खाली करना पडता है, उसी प्रकार यथासमय स्वर्गविमान भी त्याग देना पडता है । कहा भी है—

ऐ मुसाफिर क्यो पसरता है यहाँ ?
है किराये पर मिला तुमको मका,
कोठरी खाली करा ली जायगी ।।
जब तेरी डोली निकाली जायगी ।।

कर्म का आदेश अनुल्लघ्य है । उसे कोई मिटा नही सकता । राजा का, वजीर का, सेनापति का हुक्म तो फिर भी टल सकता है, मगर कर्म की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन होता ही है । चक्रवर्त्ती हो, इन्द्र हो, अहमिन्द्र हो या फिर तीर्थंकर भगवान् भी क्यो न हो, कर्म के शासन को टाल नही सकते ।

तो जब देवताओ को छ महीना पहले ही रत्नो की ज्योति फीकी दिखने लगती है और माला मुरझाई हुई नजर आने लगती है तो वे मन मे सोच लेते है कि—अब हमे मर जाना होगा, मकान खाली करना पडेगा । अब किसी प्रकार यहाँ रहना सभव नही होगा ।

सम्यग्दृष्टि देव विचार करता है कि यहाँ से च्यवन करके मैं कहाँ जाऊँगा । वह समझ लेता है कि मुझे माता के गर्भ मे प्रवेश

करना होगा और मल-मूत्र को कोठरी मे चमगीदड की तरह उल्टा लटकना होगा। वहाँ मेरे ऊपर से मल-मूत्र निकलेगा।

किन्तु याद रखना प्राणी! जब तक कर्म साथ मे लगे है, उनका फल भोगना ही पडेगा। आज मनुष्य मनुष्य से घृणा करता है। पास मे बैठने से बदबू आती है। दूसरो के शरीर को हाड-मास का बना गन्दा समझता है और अपने शरीर को सोने-चान्दी के पतरो से बना मानता है। मगर अभिमान करने वालो का काँटा बदलते देर नही लगती।

इस प्रकार देवता भी अपने राग-रग भूल जाता है और समय पर देवलोक से सच्यवन हो जाता है। देव मर कर देव भी नही होते और नारक भी नही होते। वे तिर्यञ्च या मनुष्यगति मे ही उत्पन्न होते है। देव पुन देव बनने के योग्य कर्म नही कर सकते। ऐसे कर्म या तो मनुष्यगति मे हो सकते है या तिर्यच गति मे। देवो को जब देव बनने की ही साधना प्राप्त नही है तो वे मोक्ष तो पा ही कैसे सकते है!

मनुष्यगति ही ऐसा जकशन है जहाँ से सब लाइनो पर गाडियाँ रवाना होती है। यहाँ पाँचो गतियो मे से प्रत्येक गति का टिकट खरीदा जा सकता है। नरक मे जाने की सामग्री यहाँ जुटाई जाती है, तिर्यच या मनुष्य होने योग्य कर्म भी यहाँ किये जा सकते है और देवगति पाने की साधना भी की जा सकती है। पचमगति मोक्ष मे जाने के लिए आठ कर्मो का नाश भी इसी मनुष्यगति मे किया जा सकता है।

कर्म के उदय से मिलने वाली गति सीमित समय के लिए होती है, वह नाशशील होती है। इसी प्रकार कर्मोदय से प्राप्त होने

वाली प्रत्येक वस्तु का काल निर्धारित होता है, क्योकि कर्मो का फल परिमित समय तक ही भोगा जाता है। कोई भी कर्म अनन्त काल तक न उदित रह सकता है और न फल ही दे सकता है। इसी कारण एक गति कर्म का फल भोग लेने के पश्चात् दूसरी गति मे जाना पडता है। किन्तु पचमगति मे कर्मो का उदय नही है। इस कारण उस गति मे जाना तो है पर लौट कर आना नही है। उस गति को प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता है और वह जप, तप, सयम ब्रह्मचर्य ध्यान स्वाध्याय आदि साधना इस मनुष्य जन्म मे ही हो सकती है। अन्य किसी गति मे नही। मगर क्या किया जाय ! प्राणी इतना विकासशील होने पर भी कुँभकर्णी नीद मे सोया पडा है। वह नही समझता कि यही आकर मै जन्म-जन्मान्तर की दरिद्रता दूर कर सकता हूँ।

सज्जनो ! साहूकार के पास जाकर भी दिवाला दूर न हुआ तो क्या दिवालिया के पास आकर दूर करोगे ? यहाँ अच्छे से अच्छे साधन मौजूद है, किन्तु आत्मनिष्ठा होनी चाहिए।

आत्मा जो चाहे वही मनोरथ पूरा कर सकती है, मगर होना चाहिए असली जती-सती। नकलीपन से मनोरथ की सिद्धि नही होती। यह विशेषता तो असली जती-सती मे ही होती है।

किसी समय एक बाई धान कूट रही थी। धान को सौराष्ट्र मे डागर कहते है, मगर पजाब मे पशु को डागर कहते है। हम सौराष्ट्र मे गये तो एक घर मे सुना—'डागर राधेलो छे।' यह सुन कर पहले-पहल मुझे बडा विस्मय हुआ कि क्या यहाँ राक्षस ही इकट्ठ हो गये हैं जो डागर अर्थात् पशु भी राधते है। फिर पता चला कि यहाँ चावल को डागर कहते हैं।

हाँ, तो वह पतिव्रता बाई डागर अर्थात् शालिकूट रही थी। जब से उसने होश सँभाला तभी से मन-वचन-काय से ब्रह्मचर्य का पालन किया था और वह पति की आज्ञा का पूरी तरह पालन किया करती थी। वह घर का काम-काज तो करती ही थी, साथ ही पति के काम मे भी हाथ बँटाया करती थी। यह नही कि खाया पीया और रूई के बोरे को तरह मस्त हो कर पड जाय। वह पति के सुख मे सुख और दु ख मे दु ख मानती थी।

मगर आज क्या स्थिति है ? भले पति के नाम वारट हो मगर श्रीमती जी को तो गजरा गोखरू और सोने का कटोरा ही चाहिए। किन्तु अरी भद्रा ! जरा घर की स्थिति का तो विचार कर। जब तेरा पति कमजोर स्थिति मे हो, उसकी आर्थिक अवस्था ठीक न हो और कोई स्त्री शृगार की वस्तुओ की फरमाइश करे तो समझना चाहिए कि वह स्त्री नही भूतनी है। भूतनी तो कदाचित् मत्र-तत्र के बल से उतर जाएगा पिण्ड छोड देगी, परन्तु वह तो मत्र-तत्र मे भी नही उतरेगी। अरी, तुझे तो अर्धांगिनी कहते हैं। तू पति का आधा अग है। जब आधा अग किसी प्रकार की कठिनाई मे हो तो शेष आधा अग कैसे कठिनाई नहीं महसूस करेगा ? एक अग दुखी हो तो दूसरा अग शृगार और विलास की इच्छा नही कर सकता। अगर ऐसा करता है तो माना जाएगा कि वह उसका अग ही नही है, अर्धांगिनी को पति का बोझ अपना ही बोझ समझना चाहिए। उसे गृहस्थी के भार को बाँटना चाहिए न कि असह्य भार बन कर पति की कमर को ही तोड डालने का प्रयत्न करना चाहिए। आदर्श पत्नी पति को अपनी ओर से चिन्तित नही होने देती और अन्य कारणो से उत्पन्न हुई चिन्ता को कम करने का प्रयत्न करती है।

घर मे हो तो पति से माँगने मे ऐतराज नही। किन्तु पति की हालत नाजुक हो तब उसे अपनी फरमाइशो से परेशान करना महान् पाप है। ऐसी स्थिति मे की हुई अठाइया भी काम आने वाली नही है। पत्नी के लिए यह शोभा की बात नही कि उसके निमित्तसे पति को सदैव आर्त्तध्यान मे पडा रहना पडे।

देखो, सीता ने क्या किया था? राम को वनवास करना था। वहाँ सीता और लक्ष्मण की आवश्यकता नही थी किन्तु बात यह है कि सच्चा भाई, भाई से और पत्नी पति से जुदा नही रहता। सच्चे हितैषी ऐसा ही किया करते है।

सज्जनो! मनुष्य का जीवन बहुत ऊँचा है। यह सर्वोपरि फर्म है। इस फर्म को पा कर भी यदि कोई अपना दिवाला दूर न कर सका तो वह सदैव दिवालिया ही रहने वाला है। यहाँ जो आए और जिन्होने समझदारी से काम लिया, उनके दिवाले दूर हो गए। तीन काल मे भी जो दिवाला दूर होने वाला न था, वह भी दूर हो गया।

हाँ, तो वह पतिव्रता धान कूट रही थी। वह पति की आज्ञा-कारिणी थी। किसी भी स्थिति मे क्यो न हो, पति की आज्ञा होते ही सर्वप्रथम उसका पालन किया करती थी।

किन्तु आज तो कई बहिने बैठी-बैठी आज्ञा चलाती है और पति को बन्दर की तरह नाच नचाती है।

दूसरी ओर पति भी पत्नी की अनुचित उपेक्षा करते है। पति का भी कर्तव्य है कि वह पत्नी को ठीक रूप मे रक्खे और उसे गृहलक्ष्मी समझ कर योग्य सत्कार करे। जहाँ पति-पत्नी परस्पर

प्रेम से रहते है एक दूसरे की सुविधा-असुविधा का ख्याल रखते हैं, स्वय कठिनाई उठा कर भी दूसरे को सुखी रखने का प्रयत्न करते है, परस्पर आदरभाव रखते है और अपने-अपने धर्म का समुचित रूप से पालन करते है, वहाँ स्वर्ग उतर आता है। ऐसे दम्पती स्वर्गीय सुख का उपभोग करते है और अपने जीवन को सफल बनाते है।

इसके विपरीत, जिस घर मे पति-पत्नी मे प्रेम नही, सहानुभूति नही, कर्त्तव्यनिष्ठा नही, वे करोडपति होकर भी नारकीय जीवन यापन करते है। उनका इह-परलोक दोनो बिगड जाते है।

पति को प्यास लगी और उसने पत्नी से पानी लाने के लिए कहा। ज्यो ही पत्नी ने आवाज सुनी, हाथ मे ऊँचा उठाया हुआ मूसल ऊपर ही छोड दिया और पति को पानी ला कर दिया। उसके पतिव्रतधर्म के प्रभाव से उतनी देर तक मूसल ऊपर ही टिका रहा।

आज सोचेंगे—यह क्या चीज है ? सज्जनो ! यह तो एक मामूली चीज है। सतियो के सत्य के प्रभाव से आसमान मे पहाड तक खडे किए जा सकते है। सतीत्व मे असीम, अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति है। आवश्यकता है श्रद्धा और निष्ठा की।

सज्जनो ! शीलवान् के प्रभाव से शेर भी बकरी के समान बन जाता है। तीव्र गति से बहती हुई महानदी भी मार्ग दे देती है। आकाश मे सिर ऊँचा किये खड़े बडे-बडे पहाड भी टोकरी के समान बन जाते है। साप फूलो की माला का रूप धारण कर लेता है। विष अमृत के रूप मे परिणत हो जाता है। कुए का पानी चालनी के द्वारा निकाला जा सकता है।

शास्त्रकारो ने शील की वडी महिमा गाई है। भगवान् को २८ उपमाएँ दी गई है जब कि शीलवान् को ३२ उपमाएँ दी गई है।

तो उस पतिव्रता का यह चमत्कार एक कुटिला पडौसिन ने देख लिया। वह अपनी कुटिलता के कारण जल-भुन कर राख हो गई कि—अरे, इसकी आज्ञा से तो मूसल भी ज्यो का त्यो आकाश मे ही खडा रह जाता है!

वह उस पतिव्रता के पास पहुँची और कहने लगी—बहिन, वताओ, यह सिद्धि कैसे तुम्हे प्राप्त हो गई?

पतिव्रता ने कहा—बहिन, यह पतिव्रत धर्म का प्रताप है और कुछ भी नही। पतिव्रता को इस प्रकार की शक्तियाँ स्वत अनायास ही प्राप्त हो जाती है। मैं प्रात काल पति के उठने से पहले ही उठ जाती हूँ। घर का कामकाज करती हू और दोपहर मे पति के काम मे हाथ बंटाती हूँ और उनकी आज्ञा का पालन करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ। शील सतोप मे अपना जीवन व्यतीत करती हूँ। इसी से मुझे यह सिद्धि अनायास ही प्राप्त हो गई है।

पडौसिन बोली—यह तो वड़ी अच्छी बात है। कल से मैं भी ऐसा ही किया करूगी।

दूसरे दिन उसने जल्दी उठ घर का काम किया और अपने पतिदेव से कहा—देखो, अव तुम घर के काम को हाथ मत लगाना। सव काम मै ही करूँगी और तुम्हारा काम भी मैं ही करूँगी।

पति ने सोचा—आज मेरे पुण्य का उदय हो गया और जागती ज्योति जगदम्वा की कृपा वरस पडी जो कह रही है कि

कोई काम मत करो। यह सद्बुद्धि इसे कैसे सूझी! कैसे भी सूझी हो, अब मेरे भी सुख के दिन आ गए।

पति ने उससे कहा—नही भद्रा! थोडा काम मैं कर लूंगा और थोडा तुम कर लिया करो।

वह बोली—नहीं पतिदेव, यह नही हो सकता कि तुम तो काम करो और मैं बैठी रहूँ।

पति की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने सोचा—वाह, आज तो मेरी पत्नी ने कमाल कर दिया। मालूम होता है जन्म-जन्मान्तर के मेरे सारे पाप हो धुल गए।

पत्नी ने बडी प्रीति के साथ पति को भोजन जिमाया और कहा—अब आप आराम कर लो।

पति ने जब तक आराम किया तब तक उसने भोजन करके बर्तन साफ कर डाले। तत्पश्चात् वह पति के पास जाकर बोली—देखो जी, अब मैं धान कूटती हूँ और आप मुझ से पानी माँगना।

पत्नी ने सोचा—नकल करना ही है तो पूरी तरह करनी चाहिए!

ऋतु गर्मी की थी। उसने धान कूटना आरम्भ करने से पहले एक बार फिर याद दिला दिया—प्यास लगने लगे तो पानी जरूर माँगना।

पति ने सोचा—कल से आज इसमे कितना परिवर्तन हो गया है! मेरा गला भी सूखा नही देखना चाहती।

देवी जी ने हाथ मे मूसल लेकर दो-चार हाथ मारे कि हाँपने लगी। हमेशा रूई के बोरे को तरह जो पडी रहती थी ! तब वह पति मे बोली—ओ जी, पानी क्यो नही माँगते हो ?

पति ने उसका मन रखने के लिए पानी माँगा तो उसने ऊपर उठाए मूसल को ज्यो का त्यो छोड दिया। परिणाम यह हुआ कि मूसल सीधा उसकी खोपडी पर पडा और सिर से खून बहने लगा। वह गुस्से से आग बबूला हो गई और मूसल लेकर पति की ओर दौडी। बोली—अरे, तुझमे इतना भी सत्य नही कि यह ऊपर खडा रहे ! मेरा तो माथा ही फूट गया !

पति डर के मारे घर से बाहर निकल कर भागा। आगे-आगे पति और पीछे-पीछे जगदम्बा दौडी।

लोग चकित थे। किसी ने पूछा—भाई क्या हुआ ?

सेठ बोला—मुझे कुछ नही मालूम। सिर्फ यही जानता हूँ कि यह मूसल लेकर मेरे पीछे पडी है।

'आखिर कुछ तो हुआ होगा ? पहले से कोई खटपट चल रही होगी !' लोगो ने पूछा।

सेठ ने कहा—इसी जगदम्बा से पूछो। यह रामायण तो आज ही आरम्भ हुई है। हम नए ही राम और सीता बने है।

सज्जनो ! इस प्रकार नकलचीपन से काम चलने वाला नहीं है। नकली भक्तो, श्रावको और साधुओ से समाज, जाति और सघ का काम नही चलेगा। असली असली और नकली नकली ही रहेगा। यो कहने से कोई सती नही बनती। सती को कहने की आवश्यकता नही होती। सतीत्व के साथ आडम्बर नही निभता। सतीत्व आत्मा

से उद्भूत होता है और सती की आत्मा स्वय काम किया करती है।

तो मैं कह रहा था कि जो मनुष्य विना साधना ही कार्य का फल प्राप्त करने की कुचेष्टा करता है, वह उस वाई की नाई अपना माथा फोड लेताहै।

सज्जनो ! याद रखिये, जो अपने आप को भक्त होने का दावा करते है और दूसरो को झूठा लाच्छन लगाते है उनके ऊपर ही उनके पाप कर्म के मूसल पडेगे। उनको यमदूतो की मार सहन करनी पडेगी। मगर मूसल और यमदूतो की मार खाते-खाते जमाना गुजर चुका है। कब तक यह मार खाते रहेगे।

नकली नकली ही रहेगा और असली असली ही सावित होगा। नकली साधु या श्रावक वनने से कदापि काम नही चल सकता।

एक वावा जी नकली अवधूत वन गए। सनातनधर्मियो मे अवधूत पदवी ऊँची समझी जाती है। उसे परमहस भी कहते है। उसे किसी जाति का भी खाने-पीने का वन्धन नही होता। वह चमार आदि सभी के घरो मे भोजन कर सकता है। उसका स्थान इतना ऊँचा समझा जाता है कि वह शरीर के मल-मूत्र को भी साफ करने की कोशिश नही करता। मल को भी हलुवा के समान समझता है। उसे लोग देहाभ्यास से अतीत वडा योगी समझते है।

तो वह वावाजी भी नकली अवधूत वन गए। कितने ही दिनो तक उसकी वही अवधूत् वाली क्रिया चलती रही। यह देख कर दुनिया उसकी भक्त हो गई।

दुनिया तो अन्धी गधी के समान होती है। उसे चाहे चोर हाक कर ले जाएँ, चाहे साहूकार। वस्तुस्थिति को ठीक तरह समझने वाले विरले मिलते है। एक भेड व्या . करती है तो उसके पीछे सारी भेडे व्या-व्या करने लगती है। एक ने किसी कारण किसी की निन्दा कर दी तो सभी उसका समर्थन करने लगे—हाँ साहब, हाँ साहब ठीक है! किन्तु अरे निरक्षर भट्टाचार्यो! जरा स्थिति तो समझी होती। तथ्य की गहराई मे उतर कर जाच तो कर लेते।

किसी नदी के नाले का पानी जो मिट्टी मिश्रित आ रहा है, उसे देख कर यह अनुमान मत लगाओ और एकतर्फा फैसला मत दे दो कि जहाँ से पानी आ रहा है, वह नदी ही गन्दी है। ऐसा निर्णय करने का तुम्हे कोई अधिकार नही है जब तक तुम नदी तक नही पहुँच जाते। वहाँ जाकर देखो कि यहाँ भी पानी गदला है या नही? विना निर्णय किये कोई विचार वना लेना बुद्धिमान् पुरुप का कर्त्तव्य नही है। असलियत का निर्णय करने के लिए उसे अपनी टाँगो को कष्ट देना होगा। यो ही दफ्तर मे बैठे-बैठे निर्णय नही होता। जो वाजार मे तेरी मेरी सुन कर निर्णय कर लेते है, वे धोखे मे रहते है और भ्रम मे पड कर अपनी आत्मा को गदी करते है।

क्या यह नही हो सकता कि किसी पाडे-भैंसे ने मस्ती मे आ कर पानी मे रगडपन मचाया हो और पानी गदला कर दिया हो। तो कम से कम तुम्हे तहकीकात तो करनी थी। पैरो को कष्ट देना था और निर्णय करना था कि पानी मूल से ही गदला है या रास्ते मे किसी ने गदला कर दिया है।

इस प्रकार पूरी जाँच-पडताल किये विना ही हाँ मे हाँ मिला

देना अक्ल के दिवालियो का काम है। समझदार मनुष्य को सही निर्णय करने के लिए उसके मूल स्रोत तक पहुँचना चाहिए और देखना चाहिए कि वस्तुत नदी का पानी गदला है या बीच मे भैंसे ने गदला बना दिया है ? बिना देखभाल किये यो ही फैसला कर लिया जाता है कि नदी का पानी ही मैला है तो यह निर्णय सही नही होता। जब कीचड से सना हुआ भैंसा तेरे पास से निकलेगा और अपनी पूछ की फटकार से तुझ पर छींटे उडाएगा तब तुझे पता लग जाएगा कि वास्तविकता क्या है ? अतएव पुण्यशील आत्माओ! जरा समझो विचारो। यह अनमोल जीवन यो ही निन्दा चुगली कर नष्ट करने को नही मिला है, बल्कि गुणी जनो की स्तुति करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए मिला है। किसी ने कहा है—

मोक्ष सुख की इच्छा होय तो,
ममता मही बिलो जा।
जो अब मौका चूक गया तो,
खुले नरक मे रोजा।
विवेकी आत्मा रे, अब तू निर्मल हो जा॥

सज्जनो ! ज्ञानी पुरुष कहते है कि असीम पुण्योदय से पापो को धोने का यह समय मिल गया है, अतएव यदि मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो तो आत्मा को निर्मल बना लो, अन्यथा नरक की दुस्सह यातनाओ का भागी होना पडेगा।

गुरुसेवा की गगा इसमे मैल पाप सब धो जा।
भारी हो रहा बहुत दिनो से, हल्का करले बोझा।
विवेकी आत्मा रे, अब तू निर्मल हो जा॥

सज्जनो ! वडे-वडे अपराधी, पापी, हत्यारे और और चोर-डाकू भी गुरुसेवा की नदी मे स्नान करके शुद्ध हो गए। उनके सभी पाप धुल गए और वे स्नातक वन गए। मगर क्या किया जाए ! पानी मे कपडे, मकान, वर्तन एव शरीर को स्वच्छ कर देने की शक्ति है, किन्तु काला लोहा उससे स्वच्छ नही होता—उससे लोहे का कालापन नही धुलता। लोहा यदि उस पानी मे पड जाए तो उस पर काठ-जग चढ जाए और उसका रग वदरग हो जाए। उसकी तो पहले की आव भी नष्ट हो जाती है।

सज्जनो ! यह मूल्यमय समय पाप-मैल धोने का है, वढाने का नही। आडम्बर से पापमैल नही धुलता, साधना से धुलता है।

वह वावा आडम्वर करके अपनी पूजा-प्रतिष्ठा कराने लगा। भक्त लोग वडी मनवार के साथ उसे माल-मलीदा खिलाने लगे।

वाई जी के गुरु कभी भूखे नही मरते। वह अपने धनी और वाल-वच्चो को जो चीज नही देती, वह गुरुजी को उनके स्थान पर ले जा कर दे आती है। उस वावा को सभी स्त्री-पुरुष साक्षात् परमहस कहने लगे।

धीरे-धीरे रानी के कानो तक भी यह वात पहुँची। उसने परमहस वावा का दर्शन करके पुण्य वटोर लेने का निश्चय किया वह रथ पर आरूढ हो कर और उत्तम भोजन का थाल सजा कर उसके ठिकाने पर पहुँची। नकली अवधूत को नमस्कार करके रानी उसके पास वैठ गई। उस ढोगी वावा ने अपना सारा रगढग सच्चे अवधूत की तरह ही वना रक्खा था। रानी को अपने सामने वैठी देख कर वह एकदम उठा और उसकी गोद मे वैठ गया।

रानी ने सोचा—यह सच्चा अवधूत है और इसके काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार नष्ट हो गए है। यह सोच कर रानी उसे अपने हाथ से भोजन कराने लगी। बाबा ने सोचा—मुझे इस अवसर का पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। यह सोच कर उसने रानी के कपड़ो मे पेशाब कर दिया। रानी ने फिर भी विचार किया—अहा, वास्तव मे ही यह सच्चा अवधूत है। थोडी देर बाद उसने अपनी अवधूतता का पूरा परिचय देने के लिए रानी के वस्त्रो मे मल का भी त्याग कर दिया। यह देख कर रानी को कुछ अरुचि हुई—इसने मेरे कपडे खराव कर दिये! फिर भी सोचा—चलो कोई बात नही। यह अवधूत जो ठहरा।

किन्तु इस वार रानी ने सोचा—परीक्षा करके तो देखना चाहिए कि यह वास्तव मे ही अवधूत है या नकली वनता है? यह सोच कर रानी ने थोडा-सा उसी का मल लेकर उसके मुँह की ओर वढाया तो उसने घृणापूर्वक मुँह फेर लिया। यह देख कर रानी ने जान लिया कि यह असली अवधूत तो नही है!

रानी ने धक्का दे कर उसे अपनी गोद से अलग कर दिया और नौकरो को आदेश दिया कि धक्के दे कर इसे शहर की सीमा से वाहर निकाल दो।

सज्जनो! सच सच ही रहेगा और झूठ झूठ ही रहेगा। कहा भी है—

> सच्चाई छिप नही सकती वनावट के असूलो से।
> खुशवू आ नही सकती, कभी कागज के फूलो से॥

तो इस प्रकार के ढोंगी गुरुओ और भक्त श्रावको से काम चलने वाला नही है। अतएव भगवान् के सच्चे प्रामाणिक भक्त

वनो और अपने पापो को नष्ट करने का प्रयत्न करो ऐसा करने से अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा। इसके लिए आत्मा की शक्तियो का सही उपयोग करना होगा। आत्मा अनन्त शक्तियो का पुज है। उन्हे पहचान कर काम मे लाना चाहिए। अन्य धन तो सब जगह मिल जाते है किन्तु आत्मधन तो मनुष्यजन्म मे ही मिल सकता है। सौभाग्य से यह जन्म हमे मिल गया है तो इसका पूरा मूल्य हमे समझना चाहिए और दूसरी प्रपच की बातो मे नही फसना चाहिए। इस प्रकार जो सीधे मार्ग पर चलते है, वे ससार समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
२१—१०—५६

———

त्रिपुटी का त्याग

उपस्थित महानुभावो !

शास्त्र मे जो प्रश्न किया गया है और जिनकी विवेचना यहाँ प्रस्तुत है, वह यह है कि जो भव्यात्माएँ—मुमुक्षु आत्माएँ—अनन्त-अनन्त काल से अपने मे अड्डा जमाए राग, द्वेष और मिथ्यात्व रूप तीन दोषो का उन्मूलन कर देती है, जिनका उन्मूलन करना सहज नही है और जिनकी जडे पाताल तक फैली हुई है, उन त्रिदोषो को ज्ञान और चारित्र के वल से समूल नष्ट कर देती है, उन आत्माओ को क्या लाभ होता है ?

सज्जनो ! राग, द्वेप और मिथ्यादर्शनशल्य, ये तीन महा-दोप है। जो वस्तु मनोज्ञ प्रतीत होती है, जिससे स्वार्थ की पूर्ति होती हो और आनन्द की उपलब्धि होती हो, उसके प्रति लगन होना, आसक्ति होना राग है। और जो पदार्थ मन के अनुकूल न हो, अतएव मन जिन्हे ग्रहण न करना चाहता हो, उनके प्रति घृणा होना, अरुचि होना द्वेष है।

जहाँ राग है वहाँ द्वेष अवश्य होता है और जहाँ द्वेप है वहाँ प्राय राग भी रहता है। दोनो की जोडी है।। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के समय थोड़े काल तक ही ऐसी स्थिति रहती है कि जहाँ द्वेष पहले नष्ट हो चुकता है और सूक्ष्म राग बना रहता है। किन्तु उस राग मे जब द्वेष का विष नही रहता तो वह बहुत निर्वल होता है और

अन्तमुहूर्त्त मे ही वह भी नष्ट हो जाता है। यह स्थिति दसवे गुणस्थान मे होती है।

मोह के मुख्य दो रूप है—राग और द्वेष। राग के अभाव मे द्वेप नही होता। साधारणतया यह दोना एक दूसरे के आश्रित है। एक के बिना दूसरा नही टिक सकता। दोनो एक दूसरे का पोषण करते है। अतएव इनको जीतना सहज नही है। आत्मा के ऊपर इनका अनन्त काल से साम्राज्य जमा हुआ है। आत्मा इनके कारण अतीव दुर्वल वन कर अपनी सत्ता को भी भूल गया है।

जहाँ राग और द्वेप की प्रगाढता होती है, वहाँ मिथ्यादर्शन को भी वन आतो है। वह भी अपना काम वेखटके करता रहता हे।

मिथ्या का अर्थ है—झूठ या असत्य और दर्शन का अभिप्राय यहाँ श्रद्धा या रुचि से है। झूठी वातो पर श्रद्धा-विश्वास होना अर्थात् जिस वस्तु का जैसा स्वरूप हो उसे वैसा न मान कर अन्यथा मानना मिथ्यादर्शन कहलाता है। शास्त्रकारो ने विभिन्न अपेक्षाओ से दस और पच्चीस प्रकार के मिथ्यात्व वतलाये है।

मोहनीयकर्म से उत्पन्न होने वाले ये तीन दोप ही अत्यन्त भयकर है। जन्म-मरण की जो अनवरत परम्परा चल रही है उसका प्रधान कारण यही हे। इनके नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण की परम्परा भी नष्ट हो जाती है और आत्मा अजर, अमर एव कृतकृत्य हो जाती है।

तो इन तीनो दोपो के निकल जाने पर आत्मा निखर जाती है, विशुद्ध हो जाती है और आत्मा के निखर जाने पर उसे अपनी शक्तियो का ठीक-ठीक भान हो जाता है। तत्पश्चात् आत्मा देखती है कि मेरा स्वरूप क्या है और मै इसे कैसा समझ बैठा था।

इन राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन को आध्यात्मिक त्रिदोष कहा है और सनातनधर्म मे भी इन्हे आवरणदोष, मलदोष और विक्षेपदोष के नाम से स्वीकार किया गया है।

आत्मिक गुणो का आच्छादित हो जाना आवरणदोष है। आत्मा मे मलीनता उत्पन्न हो जाना मलदोप है। जैसे शरीर मे मल इकट्ठा हो जाने से शारीरिक बीमारी खडी हो जाती है और उसे दूर करने के लिए जुलाब लेना पडता है, उसी प्रकार अन्त करण मे उत्पन्न होने वाली दुर्भावनाएँ अर्थात् निन्दा चुगली ईर्षा आदि आन्तरिक बीमारियाँ ही मल दोप है। अन्तराय कर्म विक्षेपदोप है, क्योकि यह वस्तु की प्राप्ति मे विघ्न डालता है। मनुष्य अनेक प्रकार के मसूबे करता है, परन्तु विक्षेपदोप उनकी पूर्त्ति मे विघ्न डालता रहता है।

यह तो नित्य के अनुभव की चीज है कि मनुष्य मेहनत करता है, प्रवल पुरुपार्थ भी करता है, फिर भी उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति नही होती। मनुष्य की सुख पाने की अभिलापा भी है और प्रयत्न भी है, फिर भी यदि उसे सुख नही प्राप्त होता तो मानना ही पडेगा कि कोई न कोई बाधक तत्त्व है जो इष्टसिद्धि नही होने देता।

व्यवहार का अनुसरण करने वाले स्थूल बुद्धि लोग स्थूल कारण को ही देख पाते है। उनकी बुद्धि इतनी तीखी, पैनी और और पारदर्शी नही होती कि स्थूल को भेद कर सूक्ष्म तत्त्व तक पहुँच सके। इस कारण वे कह देते हैं—अमुक व्यक्ति या वस्तु ने विघ्न डाल दिया है, किन्तु वास्तव मे तो उनका अन्तराय कर्म ही विघ्न कर्त्ता है। हाँ, यह ठीक है कि कोई व्यक्ति या वस्तु वाह्य कारण-

निमित्त बन जाय, परन्तु अतरग कारण तो अन्तराय कर्म ही है। अन्तर्वर्त्ती विक्षेपदोष या अन्तराय कर्म ने वाह्य निमित्त के द्वारा विघ्न डाला है। व्यापार मे लाभ न होना, ग्राहको का न आना, कार्य होते-होते रुक जाना आदि वाते अन्तराय कर्म पर ही प्रधानतया निर्भर है। इस कर्म का जव प्रवल उदय होता है तो मनुष्य की एक नही चलती। उसकी सव कामनाएँ और चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध होती है।

तो शास्त्रकार कहते है कि इन तीन दोषो को जो जीत लेता है उसे ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। जितने-अशो मे राग, द्वेष और मिथ्यात्व छूट जाते है, यह आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए कटिवद्ध होती जाती है और आगे से आगे उसका विकास होता चला जाता है। शनै-शनै उसमे इतना वल आ जाता है कि हजारो विपत्तियाँ और बाधाएँ क्यो न टूट पडे, वह अपने नियत मार्ग से विचलित नही होता। जव विचलित करने वाले तत्त्वो को ही उसने निर्वल बना दिया तब उसे कौन गिरा सकता है।

जगत् मे जहाँ भी देखो सघर्ष और द्वन्द्व ही नजर आता है। परस्पर विरोधी तत्त्वो के सघर्ष को ही ससार कहते है। इस सघर्ष मे वलवान् की विजय और निर्बल की पराजय होती है। जव तक आत्मा निर्वल है तब तक वह आत्मविरोधी तत्त्वो से पराजित होता रहता है और जब उसकी शक्ति वढ जाती है तो विरोधी तत्त्वो को पराजित कर देती है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही आत्मा के वे अमोघ अस्त्र है जिन्हे धारण करके आत्मा सवल वनता है। उन्हे प्राप्त करना और

प्राप्त करके विकसित करना ही आराधना है। आराधना को अपना लेना है।

कहते है जिसे अपने अनुकूल बनाना है, उसके अनुकूल चलना पडता है। ऐसा न करके यदि उसे गालियाँ दोगे, कोसोगे और लाठी मारोगे तो वह तुम्हारे अनुकूल कैसे बन सकता है? किसी को नीचा दिखा कर और बेइज्जत करके अपनाया नही जा सकता।

याद रक्खो, अगर तुम्हारी भावना विपरीत हो जाएगी तो उसका असर दूसरे पर पडे बिना नही रहेगा।

शास्त्रकारो ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना की विधि बतलाई है। ज्ञानाराधना को दूषित करने वाले चौदह दोष है—ज वाइच्छ, वघामेलिय आदि। जो इन दोषो को टाल कर शास्त्रस्वाध्याय करते है, वे वस्तुत ज्ञान की आराधना करते है। ज्ञान की आराधना तभी होती है जब कि उसके अनुकूल साधन जुटाये जाते है।

ज्ञान को आराधना के लिए १४ दोषो को टाल देना चाहिए तथा ज्ञान और ज्ञानवान् पुरुष को आशातना नही करना चाहिए। ज्ञानी का अपमान करना भी ज्ञान का अपमान करना है। कई लोग भ्रमवश कहते है—'क्या रक्खा है ज्ञान मे। जो ज्यादा पढे-लिखे है, वे ज्यादा पाप करते है'। परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नही है, क्योंकि ज्ञान डुबाने के लिए नही तारने के लिए है। भगवान् ने ज्ञान को मोक्ष का प्रथम कारण बतलाया है। ज्ञान के बिना चारित्र सभव ही नही होता। ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है और वही उसे प्रकाश देता है। सूर्य का प्रकाश अन्धेरे के लिए, उद्योत के लिए ही होता है। जितना-जितना प्रकाश बढता जाएगा अन्धेरा उतना ही

उतना नष्ट होता जाएगा। जो अनन्त जीव अब तक मोक्ष मे गये है, ज्ञान ने ही उनके पथ का प्रदर्शन किया है। अतएव ज्ञान का अपमान करना भगवान् के शासन का अपमान करना है। वास्तव मे ज्ञान कभी नही डुबाता। डुबाने वाला तो अज्ञान ही है।

सज्जनो ! पुस्तक वाच लेना ही ज्ञान नही है, वस्तुतत्त्व का वास्तविक बोध होना ही ज्ञान है। पढते तो बहुत है और बहुत-सी पुस्तको का बोझ उठाते है, परन्तु—

पठन्ति वेदशास्त्राणि, दुर्लभो भावबोधक ।
शिरो वहति पुष्पाणि, गन्ध जानाति नासिका ।

अर्थात्—पुस्तको का भार उठाने वाले तो बहुत मिल जाएँगे, किन्तु उनको सुगन्ध लेने वाले भ्रमरे विरले ही मिलेगे। कई लोग वेदपाठी कहलाते है, अनेक भाषाओ के ज्ञाता बन जाते है, विभिन्न भाषाओ मे धाराप्रवाह वक्तृता दे सकते है, उनकी बोलने की चतुराई का पार नही होता, परन्तु बहुतो की आत्मा मे जो चीज होनी चाहिए वह नही होती। अक्षरज्ञान होने पर भी जो आत्मज्ञान से रहित है, वह वास्तव मे ज्ञानवान् नही है।

शास्त्र मे कहा गया है—'नाणस्स फल विरई' अर्थात् ज्ञान का फल चारित्र है। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान की सफलता सदाचार मे है। जो ज्ञान सदाचार रूप फल को उत्पन्न नही करता वह वास्तव मे ज्ञान ही नही है।

वास्तविक ज्ञान श्रेष्ठ कार्यो के लिए प्रेरणा देता है। वह ऐसी सूझ-बूझ देता है और उससे ऐसा मार्ग मिलता है कि जिससे आत्मा कल्याणपथ की ओर अग्रसर होता है।

ज्ञान से अहित कदापि नही होता। अमृत से मुख कडवा हो ही नही सकता। वह तो जहर है जो मुँह को कटुक बनाता है। तो ज्ञानी कहला कर जो जुआ खेलता है, मदिरापान करता है, दुष्कृत्य करता है, निन्दा और चुगली मे जिंदगी बर्बाद करता है, वह अक्षर-ज्ञानी भले ही हो, आत्मज्ञानी नही कहला सकता। उसका ज्ञान निष्फल होने के कारण वन्ध्य (बाझ) है। उसको आत्मकल्याण रूपी सन्तति की प्राप्ति नही हो सकती।

तो बहुत-से लोग वेद, कुरान और पुराण और दुनिया के ग्रन्थ पढते है और १८ भाषाओ के वेत्ता भी हो जाते है, किन्तु यदि आत्मा मे उनका अमल नही है और वस्तु को यथार्थ रूप मे समझने की बुद्धि नही है तो शास्त्रीय दृष्टि से वे ज्ञानी नही है अज्ञानी है।

सज्जनो ! विभगज्ञानी लाखो-करोडो योजनो की बातो को जान लेते हैं। वह भी एक प्रकार का प्रकाश है परन्तु वह विपर्यय रूप है। अर्थात् वस्तु कुछ है और उसे जानता कुछ और ही है।

तो पोथे पढने वाले तो बहुत मिलेगे किन्तु भावबोध प्राप्त करने वाले बहुत कम मिलेंगे। ग्रन्थो का बोझ ढोने वालो की कमी नही है। गुलाब, चम्पा, चमेली जुही, मोगरा आदि की माला स्त्रियाँ चोटी पर सजाती है तो उनका बोझा सिर को उठाना पडता है, परन्तु उन पुष्पो के सौरभ का आनन्द तो नासिका ही लेती है। सिर तो केवल बोझ उठाने को है वह खुशबू नही ले सकता।

इस प्रकार बोझ उठाने के लिए और है और आनन्द लेने वाला भ्रमर और ही है। बोझ उठाने वाले तो पोथियो का भार उठा-उठा कर यो ही मर जाएँगे। वे उनसे कोई लाभ नही उठा सकेंगे।

दुर्गंध लेने वाले दुर्गंध ले लेते है और सुगन्ध लेने वाले सुगन्ध ले लेते है।

जिसके पास जैसी वस्तु होती है वह वैसी ही दे या दिखला सकता है। किसी से गधे के सीग मॉगो तो कहाँ से मिल जाएंगे ? कहा भी है—

जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम्।
न हि शशकविषाण कोऽपि कस्मै ददाति ॥

अर्थात्—यह वात तो जगत् मे भली-भाँति विदित ही है कि विद्यमान वस्तु ही प्रदान की जा सकती है। शशक के सीग, जो होते ही नही, कोन किसे दे सकता है ?

और जैसी जिसकी भावना होती है उसे वैसी ही वस्तु मिल भी जाती है। दुकान मे तरह-तरह का माल होता है परन्तु जिसे जैसा माल लेना होता है, वह वैसा ही पसन्द करके ले लेता है।

यह ससार है। इसमे अनेक प्रकार की रुचि वाले लोग मौजूद है। किसी की दृष्टि गुणो की तरफ तो किसी की दृष्टि दोषो की ओर जाती है। सव अपनी-अपनी दृष्टि से देख कर वस्तु को ग्रहण कर लेते है। जमीन मे पाँचो रग, पाचो रस और दोनो प्रकार की गध मौजूद है। विभिन्न प्रकार के पौधे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार रूप, रस और गन्ध उसमे से ग्रहण कर लेते है। जिस वेल मे पीले फल लगते है, वह पीले रग और रस को ही ग्रहण करती है, वहाँ निसर्गत पीले रग के ही पुद्गलो का आकर्षण होता है। इसी प्रकार इस ससार मे सभी कुछ मौजूद है और जिसकी जैसी प्रकृति है, वह वैसा ही रस ग्रहण कर लेता है। गुलाव गुलाव का रस

खीच लेता है और दुर्गन्ध युक्त प्याज दुर्गन्ध-पूद्गलो को खीचता है।

तो शास्त्र मे आया है कि स्वाध्याय करते हुए भी दोपो को वचाना चाहिए और ज्ञानवानो के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए कि—धन्य है वे जो मेहनत करके ज्ञानोपार्जन करते है और दूसरो को भी अपने ज्ञानालोक से प्रकाशमय वनाते है। जो ज्ञान की और ज्ञानी पुरुपो की प्रगसा करता है, उनका मान-सम्मान करता है उसका ज्ञानावरणीय कर्म कटता चला जाता है और वह ज्ञानप्राप्ति के पथ को प्रगस्त कर लेता है।

सज्जनो ! कभी मन मे न आने दो कि—ज्ञान मे क्या वरा है ! ज्ञान के अभाव मे कुछ भी नही है। ज्ञान के विना जडता आ जाती है। ज्ञान के प्रताप से ही तू चेतन वना हुआ है अन्यथा जड मे और तुझमे कौन-सा अन्तर रह जाता ?

इस प्रकार दर्शनाचार के पॉच अतिचारो से वच कर दर्शन की आराधना करनी चाहिए। जो उन ज्ञानविरोधिक दोपो अतिचारो का सेवन करते है, वे दर्शन की विरोधना करते हे।

इसी प्रकार जिसने जो चारित्र अगीकार किया है, वह उसका निर्मल रूप से पालन करे, यह चारित्र की आराधना है। श्रावक देशविरति को और साधु सर्वविरति चारित्र को धारण करता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह उस गृहीत चारित्र का सर्वतोभावेन रक्षण करे। जिसके ज्यादा खेती होती है वह ज्यादा की और थोडी खेती वाला थोडी खेती की रखवाली करता है। रखवाली करने से कुछ न कुछ प्राप्ति होगी ही। तात्पर्य यह कि जिन क्रियाओ के करने से चारित्र मे दोप आते हो और चारित्र का खण्डन होता हो, उन्हें न करना ही चारित्र की आराधना है।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना एव तज्जनित आत्मिक जागृति तभी होती है जब राग, द्वेष और मिथ्यात्व दूर हो जाते है। यह आत्मा जब तीन रत्नो की आराधना के लिए कटिबद्ध हो जाती है और दृढ सकल्प हो कर लग जाती है तो अनादिकालीन कर्मग्रन्थि शनै-शनै शिथिल और शिथिलतर होकर खुल जाती है। जैसे ठग किसी की गाठ काट लेता है, उसी प्रकार वह कर्मों की गाठ को काट डालता है।

शास्त्र मे आठ कर्मो को नष्ट करने का तरीका बतलाया गया है। सर्वप्रथम मोहनीय कर्म पर ही हमला करना होगा क्योकि यही सब कर्मों का प्रधान सेनापति है। यह वह तार-बाबू है जो भीतर ही भीतर बैठा हुआ तार खटखटाता रहता है। मोहनीय कर्म २८ प्रकार से जीव पर प्रभाव डालता है। उनमे सोलह प्रकार का कषाय चारित्र मोहनीय, नौ प्रकार का नोकषायचारित्रमोहनीय और तीन प्रकार का दर्शन मोहनीय-मिथ्यात्व, मिश्र और समकितमोहनीय है।

सोलह प्रकार का कषायमोहनीय इस प्रकार है—(१) अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ, (२) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, (३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और (४) सज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ।

नौ नोकषाय ये है—(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुरुषवेद और (९) नपुसकवेद।

दर्शनमोहनीय के तीन भेद इस प्रकार है—

(१) मिथ्यात्व मोहनीय—जिसका उदय होने पर समकित की प्राप्ति न हो सकती हो। जिसके कारण जीव धर्म को अधर्म

और अधर्म को धर्म मानता है, कुगुरु तथा कुदेव को सुगुरु तथा सुदेव समझता है। यह कर्म जीव को विपरीत श्रद्धायुक्त बना देता है।

(२) मिश्रमोहनीय कर्म जीव को मिश्रपथी बना देता है। यानी इस कर्म के उदय से जीव न तो हिन्दुस्तान मे रहता है और न पाकिस्तान मे ही। बीच की हालत मे रहता है। किसी ने कहा— कुत्ता भाई, राम-राम, तो वह भी कह देता है—कुत्ता भाई, राम-राम। और कोई कहता है—गधेडे भाई, राम-राम, तो वह भी वैसा ही कह देता है। तो मिश्रपन्थी होने मे कुछ नही धरा है।

मैं सौराष्ट्र मे गया तो विहार करके लीवडी पहुँचा। वहाँ के स्थानक मे ठहरा। लीवडी सम्प्रदाय के वर्तमान पूज्य धन जी स्वामी हैं और उनसे पूर्व अजरामर स्वामी आचार्य हुए है। वे बडे प्रभावशाली सन्त थे। हमे उनका उपकार मानना चाहिए और कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होने धर्म की उन्नति की हो, फिर भले ही वे किसी भी गच्छ या सम्प्रदाय के क्यो न हो। किसी सम्प्रदाय विशेष से हमारा नाता नही है, हमारा सम्बन्ध तो गुणो से है।

सज्जनो! अजरामर स्वामी बडे पुण्यवान् पुरुप हो गये है। उन्होने धर्म का बडा उत्थान किया है। किन्तु आजकल वहाँ उनके नाम का धर्मस्थानक मे एक पाट-तख्त रक्खा है, जिस पर गद्दी और तकिया भी लगे है—और मालाएँ भी रक्खी हुई है। पूज्य धनजी स्वामी वहाँ साक्षात् विराजमान है, परन्तु कई भक्त पहले उस पाटिया को नमन करते है और फिर पूज्य जी को। इस प्रकार हमारी मौजूदगी मे ही जब यह मामला होने लगा तो वात बडी विचारणीय हो गई! हमने देखा—ये शिष्य उस बोलते देव को पीछे

नमस्कार करते है और पाटे को पहले, तो क्या इन्हे आरम्भ से ही ठीक शिक्षा नही दी गई है ? तब मैंने उन अन्ध भक्तो से पूछा—वे आचार्य क्या गद्दी-तकिया का सेवन करते थे ?

उत्तर मिला—यह तो गद्दी है।

मैने कहा—उनका शरीर जल कर राख हो गया और आत्मा ने जैसे कर्म किये थे, उनके अनुसार गति मे चली गई। अब तुम किस को मत्था टेकते हो ?

मैंने उन्हे यह भी समझाया—मरे हुए को नमस्कार करना मिथ्यात्व है। यह जडपूजा नही तो क्या है ? ज्ञान, दर्शन और चरित्र तो आत्मा मे रहते हे और जब तक वे रहते है तब तक पूजा है ।

सज्जनो ! कोई मनुष्य सयम-साधुपने से गिर चुका हो गृहस्थ बन गया हो अथवा कोई साधु बनने का उम्मीदवार हो, तो क्या तुम उन्हे नमस्कार करोगे ? तुम उन्हे साधु की तरह नमस्कार नही करोगे, क्योकि उनमे महाव्रत नही है। वह सयम से गिरा व्यक्ति सम्यग्दृष्टि हो सकता है और श्रावकधर्म का भी पालन कर सकता है फिर भी वह वन्दनीय नही है। परन्तु जब शरीर से आत्मा ही निकल गया हो तो उस जड शरीर के वन्दनीय और पूजनीय होने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता ।

मुझे कहना पड़ेगा कि कई साधु-साध्वी भी इस रोग के शिकार है। अतएव सब को ठीक सस्कार डालने चाहिए और कहना चाहिए कि अब वे हमारे मृतक गुरु आदि पूजनीय नही है। वे अब अव्रती बन चुके है ।

अव्रती सम्यग्दृष्टि का चौथा गुणस्थान होता है, देशविरत श्रावक का पाँचवाँ और साधु का छठा गुणस्थान होता है। पचम और षष्ठ गुणस्थान वाले चतुर्थ गुणस्थान वाले को वदना और उस की पूजा कैसे कर सकते है ?

परन्तु कहे किसको ? यह मोह है, हमारेपन की ममता है इसी से अनुचित कृत्य होते है। मिथ्यादर्शनशल्य ही ऐसे कृत्य करवाता है।

सज्जनो ! मेरे गुरुदेव स्वर्गवासी हो चुके है। उन्होने मुझे ज्ञान दिया है। मेरी स्मृति बनी रही तो जन्म-जन्मान्तर मे भी मैं उनका उपकार नही भूलूँगा। यही मेरा कर्त्तव्य है और यही मेरे लिए उचित है। मगर इसका यह अर्थ नही कि मै उनकी माडी बना कर पूजता फिरूँ ! ऐसा करने का अभिप्राय तो यह हुआ कि तुमने उनको ईट, चूना और पाषाण बना दिया और पूजा करने लगे, क्योकि उनमे तुमने उनकी कल्पना कर ली।

स्पष्ट शब्दो मे कहा जाए तो यही कहना पड़ेगा कि तुमने गुरु को गुरु न मान कर ईट, चूना, पत्थर मान लिया है। तुमने उनकी जड पदार्थ मे कल्पना कर ली है। 'श्रद्धामयोऽय पुरुप' अर्थात् जैसी वस्तु का ध्यान किया जाएगा, ध्यान करने वाला भी वैसा ही बन जाएगा। एक उदाहरण लीजिए—

एक भक्त जी बडे प्रेमी थे, भजनानन्दी थे। वे महात्माओ के के पास जाते थे और कभी-कभी आत्मा के सम्बन्ध मे प्रश्नोत्तर भी किया करते थे। वे बोले महाराज मन स्थिर नही होता। महात्मा ने उन्हे विधि-निषेध रूप मे अनेक शिक्षाएँ दी कि—ऐसा करना या

हिए और ऐसा नही करना चाहिए। उन्होने कहा—धर्म-ग्रथ पढो, स्वाध्याय करो, ध्यान किया करो। इससे तुम्हारा मन स्थिर हो जाएगा। उसने महात्मा के कथनानुसार साधन किए, किन्तु जन्म-जन्मान्तर का विगडा मन सहसा ठिकाने कैसे आ सकता है ?

तो भक्त जी ने कहा-गुरू जी स्वाध्याय से तो मन ठिकाने नही रहता। अब क्या करूँ ?

गुरू जी ने मार्ग वतलाया अच्छा, ध्यान किया करो। भक्त-ध्यान किसका करूँ ?

महात्मा पहुँचे हुए थे। अतएव उन्होने कहा—जो चीज तुझे सब से अधिक प्रिय हो, उसी का ध्यान कर।

भक्त घर आकर सोचने लगा—प्रिय तो मुझे माई-बाई-भाई भी है, पर इन से भी अधिक कोई वस्तु यदि प्रिय हो सकती है तो वह क्या है ? इस प्रकार वह अपनी लिस्ट मे से प्रिय चीज की तलाश करने लगा। परन्तु था वह स्वच्छ हृदय। उसमे ४२० करने की—हेराफेरी करने की आदत नही थी। वह अपने प्रति प्रामाणिक था और वास्तव मे अपना जीवन वनाना चाहता था। परन्तु पिछले सस्कार उसके वाधक वन रहे थे।

इधर ये वैद्यराज भी वडे होशियार होते है। अवसर देखे तो महगी दवा भी वतला देते है और ऐसा ही मौका आ पडे तो कौडियो की भी दवा वता देते है। गरीव को ऐसी कौडियो की दवा ही उप-योगी होती है, क्योकि अधिक कीमती दवा वह खरीद नही सकता और अविश्वास के कारण वह उसे लाभ नही पहुँचा सकती। अतएव गरीव के लिए तो दो पैसे की पुडिया ही रामवाण सिद्ध होती है। हाँ, कोई अमीर, राजा या सेठ है तो उसे कीमती से कीमती मोतियो

की भस्म आदि बहुमूल्य दवा बतलाई जाती है। तभी उसे दवा पर विश्वास होता है और तभी वह तन्दुरुस्त बनाने मे सहायक सिद्ध होती है।

अगर अमीर को कौडियो की दवा बता दी जाए तो वह माथे पर सल चढा लेता है, क्योकि वह उसे दवा नही खिलौना समझता है और इस कारण वह उसे लाभ भी नही पहुँचाती। दवा के प्रति विश्वास होना आवश्यक है।

तो वैद्य अवसरज्ञाता होते है। जिस समय जिसको जैसी दवा देनी चाहिए उस समय उसको वैसी ही दवा देते है। इसी प्रकार सुधारने वाले भी व्यक्ति को वैसा ही नुक्सा बता देते है।

तो भक्त जी ने वह लिस्ट गुरुजी को बतलाई और कहा—मुझे ये चीजे अत्यन्त प्रिय है, इनके प्रति मेरी आसक्ति है, ममता है। तो इनमे से किसका ध्यान करूँ ? कृपया आप ही पथ-प्रदर्शन कीजिए।

गुरुजी बोले—जो भी प्यारी चीज लगे उसी का ध्यान करके बैठ जाना और कमरा बन्द कर लेना।

वह फिर घर लौट आया और सोचने लगा। सोचते-सोचते उसकी नजर अपनी भूरी भैस पर पडी। वह बडी मोटी ताजी और सुन्दर थी और साथ ही खूब दूध देने वाली थी। भैस के सीग भी बहुत बडे थे। उसे वही सबसे प्रिय लगी।

वह दौडा-दौडा गुरु के पास गया और बोला—गुरुजी, मुझे सब से प्यारी चीज मिल गई और वह है मेरी भूरी भैस।

गुरुजी ने कहा—कोई हानि नही। तू बन्द कमरे मे उसी भैस-

का ध्यान करना। मन मे यही कहता रहना—मैं भैस हूँ, मैं भैस हूँ।

भक्त गुरुमन्त्र लेकर घर आ गया। एक अन्धेरी कोठरी मे बैठ गया और भैस का ध्यान करने लगा। ध्यान करते-करते छह माह समाप्त हो गए। इस अर्से मे उसके मानसपटल पर अच्छी तरह भैस के सस्कार जम चुके थे।

एक दिन गुरु जी आए और बोले—बच्चा, बाहर आओ। तब वह उसी ध्यान मे बोला—गुरुजी, आऊँ कैसे? मेरे सीग जो दरवाजे मे फँसते है।

यह सुन कर गुरु जी अन्दर गए और हाथ पकड कर बाहर ले आए। फिर पूछा—तूने सीग फँसने की बात कैसे कही?

भक्त—मै अभी तक निरन्तर भैस का ध्यान करता रहा और समझने लगा कि वास्तव मे मै भैस हूँ।

सज्जनो! यह है गहरे विचारो का प्रभाव। भैस का ध्यान करने से उसे यह प्रतीत होने लगा कि वह स्वय भैस ही है। उसका जीवन उसी रूप मे ढल गया, भैस के साथ एकरूप हो गया।

गुरु ने उससे कहा—तूने भैस का ध्यान किया तो अपने आप को भैस ही समझने लगा, परन्तु वास्तव मे तू भैस नही बना है, तू तो मनुष्य का मनुष्य ही है। तेरी वह कल्पना मिथ्या है। जब तेरे चित्त पर भैस का ध्यान करने से भैस का असर आ गया, तो यदि तू परमात्मा का ध्यान लगाता तो परमात्मा का चित्र क्यो न आ जाता?

गुरुजी ने पुन कहा—हे भक्त ! जितनी निष्ठा तेरी भैंस के प्रति रही, उतनी अगर परमात्मा के प्रति होती तो तू परमात्मा क्यो नही बन सकता था ? तुम जिसके साथ प्रेम रखते हो, वह स्वप्न मे भी सामने आ जाता है और लगता है जैसे साक्षात् वार्त्तालाप कर रहा हो। वह प्रश्न करता है और तुम उत्तर देते हो। तुम प्रश्न करते हो तो वह उत्तर देता है। यह सब विचारो का ही चमत्कार है।

तो मै कहता हूँ कि—जब वह भैंस का चिन्तन करने से भैंस के रूप मे आ गया, तो जैसी बात सुनोगे, सुनाओगे, वैसी ही भावना बन जाएगी। फिर सीग वाली बनने मे भी कसर नही रहेगी और मरते समय भी वही आनुपूर्वी आएगी कि मेरे सीग कही फँस न जाएँ ! इसलिए सज्जनो ! सीधा विचार करो। सिर नीचा और टाँगे नीची करने से कोई काम नही चलेगा।

कहावत है टिटहरी नामक पक्षी ऊपर टाँगे करके ही सोता है। वह सोचता है—कही आसमान मेरे ऊपर न पड जाए। भला क्या आसमान गिर जाने वाला पदार्थ है ? यह उसकी एक प्रकार की अज्ञानता ही है।

तो मनुष्य भैंस नही बना, मगर उसके चित्तपटल पर एक चित्र अवश्य बन गया। याद रक्खो, उतना ही प्रेम परमात्मा के प्रति रक्खोगे और प्रेम से उसका ध्यान करोगे तो एक दिन निस्सन्देह परमात्मा बन जाओगे।

तो मै कह रहा था कि जड़ पदार्थ का ध्यान करने से बुद्धि मे जडता आती है। ऐसा करने से ज्ञान की जागृति होने वाली नही है।

हाँ, तो लोग लींवडी मे विराजमान पूज्य जी को वाद मे किन्तु उस पाट को पहले नमस्कार करते थे। मैने इस सम्वन्ध मे आन्दोलन किया और डट कर विरोध किया। यद्यपि मै परदेश मे था, पर साधु के लिए स्वदेश क्या और परदेश क्या ? एक तरह से वह भी मेरा स्वदेश ही था और यह भी मेरा स्वदेश ही है। भारत का साधु किसी भी प्रान्त का क्यो न हो, समूचे भारत को ही स्वदेश समझता है।

सरकार का सैनिक चाहे पजाव मे ही जन्मा हो, परन्तु वह पजाव का ही नही, समस्त भारत का सैनिक है। इसी दृष्टि-कोण को सामने रख कर उसे भारत की चप्पा-चप्पा भूमि की रक्षा करनी है।

हाँ, तो मैने आन्दोलन किया और उस रूढिवाद को दूर करने के लिए जोरदार भाषण किया। लोगो के हृदय फडफडाने लगे। उन्होने स्वीकार किया—वास्तव मे ही हम मिथ्यात्व को प्रश्रय दे रहे है।

सव लोग हाथ जोड कर प्रतिज्ञा ग्रहण करने के लिए खडे हुए। किन्तु सज्जनो ! स्वार्थ ही जीवो को दु ख देता है। जव लोग प्रतिज्ञा लेने को उद्यत हुए तो वहाँ के सघपति ने सोचा—दो हजार वार्षिक का जो चढावा चढता है वह वन्द हो जाएगा। आमदनी मारी जाएगी ! सघपति ने प्रकट रूप मे कहा—महाराज ! इस पाट से प्रतिवर्ष दो हजार की आय होती है।

मैंने सोचा—इनकी दृष्टि मे दो हजार का तो मूल्य है परन्तु अमूल्य रत्न समकित का कुछ भी मूल्य नही है।

पहले उस पाट पर झोली और पात्र भी रक्खे जाते थे।

पूज्य धन जी स्वामी ने मुझे बतलाया कि—जब से पाट पर झोली-पात्र रखने बन्द किए है तब से तो चेले बनने भी कम हो गए है।

मैंने कहा—तब तो झोली मे से चेले निकलते होगे? सज्जनो! जब पूज्यश्री की ही ऐसी धारणा है तो चेलो का क्या हाल होगा?

मैंने अपनी बिहारयात्रा के पृष्ठों मे इस घटना का चित्र भी अच्छी तरह खीचा है। मैंने सुरेन्द्रनगर, बम्बई आदि बहुत से नगरों मे जडपूजा का त्याग करवाया है। हम जड के उपासक नही, चेतन के उपासक है। हमे अपनी इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखना है।

मुझे दोहरा मुकाबिला करना पडता है। इधर तो अपने ही भक्तो से मुकाबिला करना पड़ता है। जब वे कहते है कि महाराज तो निन्दा करते है तो उन्हे समझाना पडता है कि मिथ्यातत्त्व तो निन्दनीय ही है। उधर दूसरो के साथ भी इस विषय में संघर्ष करना पड़ता है।

जरा सूयगडांग सूत्र उठा कर तो देखो कि भगवान् ने मिथ्यात्व और पाखण्ड का किस खूबी के साथ खण्डन किया है! जब भगवान् ने मिथ्यात्व का निषेध किया है तो हमारा भी कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने भीतर घुसे हुए मिथ्यात्व रूपी चोर को बाहर निकाल दे।

तो मुझे डट कर मिथ्यात्व का मुकाबिला करना पडता है और मैं किसी की परवाह करने वाला नही हूँ। मैं तो केवल सत्य

को सामने रख कर चलता हूँ। मुझे किसी बनावटी भक्त की परवाह भी नही और आवश्यकता भी नही है। टचूब की टाँगो वाले भक्त क्या काम आएगे ? वे तो समय पर धोखा ही देगे।

भद्र पुरुषो ! आपको मालूम होना चाहिए कि जो मनुष्य जैसा ध्यान करता है, वह वैसा ही बन जाता है। जड का ध्यान करने वाले व्यक्ति की बुद्धि जड हो जाती है और चेतन का ध्यान करने वाला चेतन भाव प्राप्त करता है। हरियाली की तरफ देखोगे तो आँखो को और दिमाग को शीतलता मिलेगी, शान्ति मिलेगी। यदि कडकती धूप मे रेत के टीले की चमक को देखोगे तो आँखो को अशान्ति ही मिलेगी। जड की उपासना से चेतन भाव दब जाएगा, वह पुष्ट नही होगा।

सज्जनो ! वक्त निकल जाता है और वात रह जाती है। तो जो राग, द्वेष और मिथ्यात्व को अपने हृदय से निकाल देते है। उनके आठो कर्म नष्ट हो जाते है। सबसे पहले मिथ्यात्व को पकडना होगा। यह मिथ्यात्व ही सवसे वडा और भयकर दोष है। जब तक इसका साम्राज्य छाया हुआ है, राग-द्वेप को नष्ट करना सम्भव नही है। मिथ्यात्व के रहते मोक्षमार्ग की आराधना भी सम्भव नही हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग करो। मिथ्यात्व से मुक्त हो जाने पर ही धर्मध्यान आदि क्रियाओ की वास्तविक सफलता होगी। अन्यथा कोई लाभ न होगा।

मिथ्यात्व का त्याग किये विना जो दूसरी साधना करते है वे वही कहावत चरितार्थ करते है कि—अधी वुढिया आटा पीसे और जितना पीसे उतना ही कुत्ता चाट जाए। अन्धी वुढिया क्षम्य है पर सूझना क्षम्य नही। अतएव सोचो-समझो और इन दोप रूपी कुत्तो

को पास भी मत फटकने दो। अपना दरवाजा वन्द कर लो। मिथ्यात्व को रोकने के लिए सम्यक्त्व के कपाट जड दो और फिर तप-सयम का आटा पीसो तो किसी के सामने हाथ नही पसारना पडेगा। इस प्रकार जो राग, द्वेष और मिथ्यात्व की त्रिपुटी का त्याग करते है, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

व्यावर
२२—१०—५६

मूल का उन्मूलन

उपस्थित महानुभावो !

कल के प्रवचन मे वतलाया गया है कि राग, द्वेप और मिथ्यात्व रूप तीन दोप ही आत्मा को अनादि काल से क्षत-विक्षत कर रहे है, अस्त-व्यस्त वना रहे है और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट नही होने देते। जो साधक इन दोषों को आत्मवल, ज्ञानवल और चारित्रवल के द्वारा निकाल देते है, वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के योग्य वन जाते है, क्योकि ये ही दोप ज्ञान—दर्शन—चारित्र की आराधना मे वाधक है। जिन आत्माओ ने इन तीनो दोषो का परित्याग कर दिया है, वे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए कटिवद्ध हो जाते है और अनेकानेक कष्ट आने पर भी उस आराधना से विरत नही होते। वडी से वडी विपत्तियाँ भी उन्हे अपने ध्येय से विचलित नही कर सकती।

आज मनुष्य जरा-सी कठिनाई उपस्थित होते ही अपने निर्दिष्ट पथ से डिग जाता है, क्योंकि उसमे ये तीन दोप विद्यमान होते है और वे अपना काम कर रहे होते है। इनकी विद्यमानता मे यथेष्ट दृढता-सत्व—नही आ पाता।

जव इन तीन दोषो का अभाव हो जाता है तो ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना सहजभाव मे ही होने लगती है। फल यह होता है कि वह आठ कर्मों की गाँठ को फौरन तोड डालता है।

आठ कर्मों की प्रकृतियाँ किस क्रम से नष्ट होती है ? शास्त्र मे उनका क्रम भी वहुत विस्तृत और सुन्दर ढग से प्ररूपित किया गया है। सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का नाश होता है। यह कर्म सव कर्मों का राजा या सेनापति है। इसको जीत लेने पर सेना मे मैदान मे खडा रहने की शक्ति नही रहती। फिर वह सहज ही भाग खडी होती है। शास्त्र मे एक दृष्टान्त दिया गया है। ताड के वृक्ष के ऊपर शिखा होती है और वह शिखा सारे पेड़ की जीवनाधार होती है। उसी शिखा से पेड को खुराक मिलती है।

श्रीमद् दशवैकालिकसूत्र मे वनस्पति के अनेक भेद वतलाये गये है। यो तो वनस्पति जीवो की २४ लाख योनियाँ वतलाई गई हैं। कोई-कोई वनस्पति अग्रवीज होती है। उसका फलना-फूलना उसकी चोटी-शिखा पर निर्भर करता है। उसके अग्रभाग मे ही वीज विद्यमान रहता है। अगर उसकी चोटी कट जाती है तो सारा पेड ही सूख जाता है।

सज्जनो ! हम साधु तो घुमक्कड़ है । पैदल-विहारी है। सैकडो कोसो तक चारो दिशाओ मे विहार करते हुए जाते हैं। हमे घूमते समय कई चीजे प्रेक्टिकल रूप मे, जिनका शास्त्रो मे वर्णन है, सिद्ध होती हुई देखने को मिलती है।

हम देखते है कि खजूर के पत्तों की अनेक चीजे वनाई जाती हैं—चटाइयाँ, झाडू और टोकरी वगैरह। वह पशुओ को खिलाया भी जाता है। लोग आवश्यकता के अनुसार खजूर के पत्ते-डालियाँ काट लेते है किन्तु चोटी रहने देते है। जैसे मनुष्य के सिर के सव वाल साफ कर दिये जाते है, सिर्फ चोटी रहने दी जाती है।

तो चोटी रखने की भारतीयो की पुरानी सस्कृति है। यह पद्धति आज से नही, परम्परा से प्राचीन काल से ही चली आ रही है। मगर आज कल के कई बाबू लोगो को तो पहचानना ही कठिन हो जाता है कि यह भाई है या बाई। क्योकि न उनके चेहरे पर दाढी होती है और न मूछ ही। हाँ, मस्तक पर लम्बे बाल अवश्य होते है परन्तु चोटी नदारद रहती है।

गोतम कुमार आदि ने जब बाल तो उतरवा दिये किन्तु चार अगुल प्रमाण चोटी रहने दी और उसका लोच गुरु जी ने किया। प्रश्न उठ सकता है कि उतने से बाल क्यो रहने दिये ? और गुरु जी ने उनका लोच क्यो किया ?

सज्जनो ! यह भी साधुता की एक कसोटी है। बाई हँडिया के एक चावल को देख कर पहचान जाती है कि चावल सीधे है या नही ? इसी प्रकार गुरु जी वह बाल उखाड कर शिष्य की शक्ति-परीक्षा कर लेते है। वे जान लेते है कि इसमे कितनी सहनशीलता है ? अगर शिष्य बाल उखाडते समय 'सी' कर देता है तो समझ लेते है कि यह सहिष्णु नही है।

तो खजर के पेड के पत्ते वगैरह काट लिये जाते है किन्तु चोटी छोड दी जाती है। वह खजूर या ताड फिर फल-फूल जाता है। यदि अन्य डालियाँ तो रहने दी जाएँ और चोटी काट ली जाय तो वे डालियाँ अपनी और वृक्ष की रक्षा करने मे समर्थ नही हो सकती, क्योंकि वह अग्रभाग ही उसका बीज है।

तो चोटी का मामला बडा जबर्दस्त है। आपको मालूम होगा कि मुसलमानो और सिक्खो मे ३६ के अङ्क की तरह सदा विरोध

रहा है मुसलमान समझते थे कि ये सिक्ख हमारे जानी दुश्मन है। प्रारम्भ से दोनो जातियो मे सघर्ष रहा है। तो जव पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के रूप मे भारत का विभाजन हुआ को पाकिस्तानवर्त्ती कई सिक्खो ने दाढी मूछ और मस्तक के वाल कटवा लिये। क्योकि वे समझते थे कि अगर केश होगे तो मुसलमान सिक्ख समझ-कर प्राण ले लेगे। हिन्दुस्तान के कई नई रोशनी वालो ने भी चोटियाँ रख ली, क्योकि विना चोटी वालो को मुसलमान समझ कर सिक्ख या हिन्दू मार देते थे। इस प्रकार उन वावू लोगो को भी मौके पर चोटी की शरण लेनी पडी और चोटी ने भी उनके प्राणो की रक्षा करने मे सहायता पहुँचाई।

तो ताडवृक्ष का मूलाधार शिखा है। कोई-कोई वनस्पति ऐसी होती है जिसका बीज मूल के रूप मे होता है। उसके मूल को एक जगह से उखाड कर अन्यत्र लगा दिया है। मूल ही उसका बीज है। कई वृक्ष पर्ववीज होते है, अर्थात् वीच की गाठे ही उनका वीज है। उनकी गाठे जमीन मे वो दी जाती है और वे उग आते है जैसे, साठा—ईख वगैरह। इस प्रकार हजारो प्रकार की वनस्पतियाँ हैं जो गठा पर निर्भर है।

कई वृक्ष कन्दवीज होते हे। कइयो की डालियाँ काट कर धरती मे रोप दी जाती है और वही डालियाँ वृक्ष का रूप धारण कर लेती हे।

किसी वनस्पति की लता चलती है। कोई वीजरूप होती है। शास्त्र मे चौवीस प्रकार के धान्यो का जो वर्णन आता है, वे सव वीज रूप हैं।

कोई-कोई वनस्पति ऐसी भी होती है जो मिट्टी पानी आदि के सयोग से अपने आप उत्पन्न हो जाती है। उन्हे सम्मूर्छिम वनस्पति कहते है।

तो आशय यह है जैसे ताड या खजूर वृक्ष की चोटी कट गई तो फिर वृक्ष को, टहनियो को या अन्य किसी भाग को काटने की आवश्यकता नही रहती, वह अपने आप सूख जाता है, उसी प्रकार समस्त कर्मों के बीज रूप मोहनीय कर्म को यदि नष्ट कर दिया जाय तो शेप कर्म स्वत नष्ट हो जाते है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म तो मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर ठहर ही नहीं पाते। मोह-नाश के वाद अन्तर्मुहूर्त मात्र काल मे इन तीनो कर्मो का समूल उन्मूलन हो जाता है। ये कर्म जो कूदते है सो मोहनीय कर्म के वल पर ही कूदते है। उसके अभाव मे इन वेचारो की एक भी नही चलती।

तो मोहनीय कर्म को जीत लेने पर शेप कर्म उसी प्रकार निर्मूल हो जाते है, जैसे चोटी कट जाने पर ताड का सारा का सारा वृक्ष ही निर्मूल हो-जाता है। इस प्रकार मोह के नष्ट होने पर तीन कर्म तो उसी समय नष्ट हो जाते है, जिन्होने केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तवीर्य को रोक रक्खा था और आत्मा को अनात्मभाव की ओर मोड़ रक्खा था। इस प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर वे आत्मिक गुण प्रकट हो जाते है।

यह मोहनीय कर्म ही सव से वलवान् है। यह २८ प्रकार के रूप धारण करके आत्मा पर आक्रमण करता है। इसके समाप्त होने पर इसके साथी भी समाप्त हो जाते है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, मन पर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, यह ज्ञानावरण

कर्म के पाँच भेद है। इन्होने हमारी मति पर पर्दा डाल रक्खा है जिससे हम किसी वात को समझ नही सकते या फौरन नही समझ सकते। हमारी वह विशिष्ट ग्राहक शक्ति दव गई है। लाउड स्पीकर (ध्वनि विस्तारक यन्त्र) मे विजली की शक्ति अधिक होती है तो ग्रहणशक्ति भी अधिक होती है और विद्युत-शक्ति कम होती है तो उसकी आकर्षणशक्ति भी कम होती है। इसी प्रकार जव ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अधिक होता है तो हमारी ग्राहक शक्ति भी अधिक होती है और जव क्षयोपशम मे कमी होती है तो ग्राहकशक्ति मे भी कमी हो जाती है।

हाँ, लाउड स्पीकर का कनेक्शन कट सकता है, किन्तु आत्मा के साथ चेतना का सम्वन्ध है वह कदापि नही टूट सकता। अगर चेतना का सम्बन्ध आत्मा से कट जाए तो जीव अजीव हो जाए—जड की कोटि मे हो जाए। किन्तु ऐसा होना असम्भव है, क्योकि एक द्रव्य पलट कर कभी दूसरा द्रव्य नही वनता। यह सत्य है कि प्रत्येक द्रव्य मे प्रतिक्षण परिवर्तन का प्रवाह चलता रहता है और कभी-कभी वह परिवर्त्तन वडा विलक्षण भी होता है, तथापि द्रव्य का द्रव्यत्व कभी नष्ट नही होता।

जैसे द्रव्य अपने मूल स्वरूप मे नित्य है अर्थात् द्रव्य त्रिकाल मे वही द्रव्य वना रहता है, उसी प्रकार द्रव्य के गुण भी अपने मूल रूप मे नित्य है। उनके भी सिर्फ पर्याय वदलते है। जीव का प्रधान और असाधारण गुण चेतना है। वह नाना रूप धारण करता रहता है, मगर सर्वथा नष्ट नही होता। ज्ञानावरण कर्म का प्रवल उदय होने पर उसमे मन्दता आ जाती है, तथापि उसकी समूल सत्ता का विनाश करने की सामर्थ्य ज्ञानावरणकर्म मे नही है।

सज्जनो ! आत्मा को कर्मों के साथ सघर्ष करते अनत-अनत काल व्यतीत हो चुका है। अनादि काल से आत्मा कर्मों से वद्ध है तथापि वे आत्मा की चेतनाशक्ति को समूल नष्ट नही कर सके और न नष्ट कर ही सकेगे। निगोद जैसी निकृष्ट से निकृष्ट अवस्था मे भी चेतना की कुछ किरणे स्फुरायमान रहती ही है।

जब आत्मिक शक्ति मे वृद्धि होती है तो आत्मा चमक उठती है और जब कर्मों की शक्ति विकसित होती है तो आत्मा की चमक कम हो जाती है। जैसे हवा के कारण अग्नि चमक उठती है, उसी प्रकार क्षयोपशम का निमित्त मिलने पर आत्मा की ज्योति वृद्धिगत हो जाती है।

ईधन आदि का योग न मिले तो आग बुझ जाती है, पर जीव का चेतना गुण कभी नही बुझ सकता। जैन शास्त्रो मे अग्नि मे भी जीवो की सत्ता स्वीकार की गई है और अग्निकाय के जीवो की आयु तीन दिन-रात की मानी गई है।

ज्ञानी पुरुषो का कथन है कि एक तिनके की आग मे भी असख्यात जीव होते है। इसी कारण जैन साधु अग्नि को छूते नही और अग्नि से कोई चीज अडी हुई हो तो उसे लेते भी नही। यह साधुओ की सूक्ष्म अहिंसा है। गृहस्थ इस प्रकार की अहिंसा का पालन नही कर सकते।

प्रश्न किया जाता है कि यदि अग्निकाय के जीव तीन दिन-रात से अधिक जीवित नही रह सकते तो जगल मे लगी हुई आग और कुभार के आपाक (आवे) मे प्रज्वलित की हुई आग कई दिनो तक कैसे रह सकती है ? अग्निकाय के जीवो की आयु सिर्फ

तीन दिन-रात की मानने पर यह बात किस प्रकार सगत हो सकती है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक बार उत्पन्न हुए अग्निकाय के जीव तीन दिन-रात मे खत्म हो जाते है, मगर नए-नए जीव उत्पन्न होते रहते है। कोई भी एक जीव तीन दिन-रात मे अधिक न रहने पर भी उनका दौर चालू रहता है। उदाहरणार्थ—व्यावर ही को या किसी भी नगर को ले लीजिए। मनुष्यो के जन्म एव मरण का प्रवाह चलता रहता है। कोई भी एक मनुष्य नगर की स्थापना से लेकर आज तक जीवित नही है, तथापि सन्तति अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। यही बात—दावानल के जीवो के विषय मे भी समझना चाहिए।

तो भले ही हमे अग्निकाय के जीवो की मृत्यु और उत्पत्ति का पता न चले, किन्तु उनका जन्म-मरण होता रहता है। वे जीव असख्यात है। कोई जन्मता है, कोई मरता हे और उनकी धारा चलती रहती है। फिर भी अग्नि के किसी भी एक जीव की उम्र तीन दिन-रात से अधिक नही है। ज्ञानियो की दृष्टि मे उनके जन्म-मरण का चक्र स्पष्ट रूप से झलकता रहता हे।

तो मैं कह रहा था कि एक अवसर आएगा और आग की चमक सदा के लिए विलीन हो जाएगी, परन्तु आत्मा की चेतना तो कदापि नष्ट होने वाली नही है। यह वह चिगारी है जो बुझ जाना जानती ही नही है।

ज्ञानी जनो ने बतलाया हे कि एक युग ऐसा भी आता है, जिसे युगलिया युग कहते हैं, जब बादर अग्निकाय नही होती जो

भोजनादि पकाने मे अग्नि काम आती है उसे वादर—स्थूल अग्नि कहते है। अब भी जहाँ अकर्मभूमि मनुष्य है उन क्षेत्रो मे वह अग्नि नही है। ऐसा हो सकता है, परन्तु दुनिया मे कभी अग्नि का सर्वथा अभाव नही होता। न तो सूक्ष्म अग्निकाय का अभाव होता है और न वादर अग्निकाय का ही। पाँच सूक्ष्म स्थावर भी अनादिकाल से है और वादर भी अनादिकाल से है।

इस प्रकार आत्मा की चेतना मन्द हो जाती है, पर नष्ट नही हो सकती।

आत्मा ज्यो-ज्यो निखरता है, परिमार्जित होता है, त्यो-त्यो उसकी चेतनाशक्ति का विकास होता चला जाता है। ज्ञानावरणकर्म ज्यो-ज्यो निर्वल होता है, त्यो-त्यो विकसित होती है।

ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार का है। उनमे पहला भेद मति-ज्ञानावरणीय है। लोग कहते है—अमुक की मति मारी गई है। पर वास्तव मे मति मारी नही जाती। सिर्फ वुद्धि पर पर्दा आ गया है जिसके कारण कोई बात समझ मे नही आती। एक की बुद्धि किसी वात को शीघ्र ग्रहण कर लेती है और दूसरे की बुद्धि इतनी कुठित हो जाती है कि वह प्रयत्न करके भी नही समझ पाता। इस अन्तर का कारण ज्ञानावरण कर्म है। मतिज्ञानावरण कर्म का उदय तीव्र होता है तो वुद्धि मे मन्दता आ जाती है और ज्यो-ज्यो वह पर्दा दूर होता चला जाता है त्यो-त्यो समझ भी वढती जाती है।

दूसरा भेद श्रुतज्ञानावरण है, जिससे सुनने की शक्ति पर पर्दा पड जाता है।

तीसरा अवधिज्ञानावरणीय कर्म है। अवधिज्ञान से समस्त

लोक के रूपी पदार्थ जाने जा सकते है, किन्तु यह कर्म उसे रोक रखता है ।

मन पर्यवज्ञान से दूसरे के मन की वात जानी जा सकती है, मगर आज हमारे अन्दर वह शक्ति क्यो नही है ? इसका उत्तर है—मन पर्यवज्ञानावरण ने उस पर पर्दा डाल दिया है । ज्यो-ज्यो वह पर्दा हटता जाता है, मनोद्रव्यो को साक्षात् जानने की शक्ति विकसित होती जाती है ।

अवधिज्ञान चारो गतियो के जीवो को हो सकता है, पर मन पर्यवज्ञान सिर्फ मनुष्य गति मे ही हो सकता है । मनुष्यगति मे भी केवल सयमी साधु को और साधुओ मे भी अप्रमत्त तथा ऋद्धि-प्राप्त साधुओ को ही होता है ।

यद्यपि अवधिज्ञानी भी मनोवर्गणा के पुद्‌गलो को, जो मन के रूप मे परिणत है, जानता है, यद्यपि कभी २ थानेदार भी तहसीलदार की ड्यूटी वजा देता है किन्तु जो अधिकार तहसीलदार को है वह थानेदार को नही है । थानेदार थानेदार ही है और तहसीलदार तहसीलदार ही है । इसी प्रकार मन की वात समझने की जो शक्ति मन पर्यय ज्ञान मे है, वह अवधिज्ञान मे नही है । तो अवधि ज्ञान से भी मनोगत भाव सामान्यतया जाने जा सकते है । जैसे कृष्ण महाराज ने तेला किया । देवता ने अवधि ज्ञान मे उपयोग लगाया और उनकी सेवा मे हाजिर हो गया । सुलसा ने भी तेला किया उसके पास भी अवधि ज्ञान से सुलसा के मनोगत भाव जान कर देवता आ गया । अगर अवधि ज्ञान से ही काम चल जाता तो मन पर्ययज्ञान को पृथक् मानने की आवश्यकता ही न होती ।

ज्ञानावरणीय कर्म का पाँचवाँ भेद . केवलज्ञानावरणीय है। प्रत्येक आत्मा मे अखिल विश्व को—लोकालोक को और तीनो कालो के समस्त पदार्थों को युगपद् प्रत्यक्ष जानने का सामर्थ्य विद्यमान है, परन्तु इस सामर्थ्य को जो कर्म रोकता है, वह केवलज्ञानावरण कहलाता है।

दीपक मे सम्पूर्ण कमरे को प्रकाशित करने की शक्ति है, मगर उसके ऊपर ढक्कन रख दिया जाता है तो वह अन्दर ही अन्दर प्रकाश करता है। इसी प्रकार आत्मा मे समग्र लोकालोक को जानने की शक्ति है किन्तु पर्दा आ जाने से वह दब गई है।

और यह पर्दा यो ही नही आ गया है, हमने ही उसे उत्पन्न किया है। लोग झूठ बोलते हैं, छल करते है, विश्वासघात करते है, वचना करते है और जब ऐसी स्थिति आती है तो फिर पर्दे पर पर्दा डालते है। जैसे बजाज थान खोल कर ग्राहक को दिखलाता है और तह पर तह जमाता जाता है तो पाटिया दिखाई नही देता। हाँ, अगल-बगल का थोडा-सा हिस्सा अवश्य दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी पाटिये को भी कर्मो ने दबा रक्खा है। इस पर अनन्त कर्मो के प्रदेश रूपी पर्दे पडे है।

किन्तु यह मनुष्य जन्म उन पर्दों को दूर करने के लिए मिला है। पर्दा डालने का अवसर तो सभी योनियो मे मिलता है, मगर यह मनुष्ययोनि ही ऐसी है जिसे पाकर पर्दा दूर किया जा सकता है। मगर आश्चर्य है ! खेद है ! ऐ मनुष्य, तुझे किधर जाना था और किधर चल दिया। तूने तो भूलो का रास्ता पकड़ लिया है। ऐसी स्थिति मे तू पर्दा दूर कैसे कर सकेगा ? आज तो साधारण प्रामाणिकता ही दूर होती जा रही है ! बड़ी ही विषम स्थिति आ

गई है ! हम जैसे तो ससार व्यवहार से बहुत कुछ अलग ही रहते है, फिर भी जब किसी से कुछ काम पडता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी प्रामाणिकता ही चली गई है। कितने खेद की बात है कि आज पिता को पुत्र पर और पुत्र को पिता पर विश्वास करना भी कठिन हो गया है। तभी तो पिता अपनी तिजोरी की चाबी अलग रखता है और पुत्र अपनी चाबी अपने पास रखता है।

अरे दुनिया के लोगो ! एक ही घर है और एक ही परिवार है। मगर एक को दूसरे पर भरोसा नही है। यह सब अप्रामाणिकता का ही फल है। जीवन मे प्रामाणिकता बडी चीज़ है। जिसके जीवन मे प्रामाणिकता है, उसकी प्रत्येक बात पर और प्रत्येक आचरण पर विश्वास किया जाता है। वह जो कुछ कह देता है, वही कर दिखाता है। शत्रु भी उसकी बात पर विश्वास करते है और उस पर किसी को सन्देह नही होता।

मगर आज यह स्थिति कहाँ है ? आज तो कहनी और करनी मे कोई मेल ही दिखाई नही देता। लोग कहते कुछ है और करते कुछ है। सिर पर कोई जिम्मेवारी ले लेते है पर उसे पूरा करने की तनिक भी चिन्ता नही करते। जो घर वालो का भी विश्वासपात्र नही बन सकता, वह दूसरो का विश्वास कैसे सम्पादन कर सकता है ?

ऐ मनुष्य ! तेरा आसन, तेरा दर्जा सब मे ऊंचा है। तू जगत् मे सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और परमात्मा के पद पर पहुँचने की क्षमता तुझमे है, फिर भी तू काले पर काला मुख करता जा रहा है और अपना दिवाला निकालता जा रहा है। तेरे लिए इससे अधिक लज्जा की बात और क्या हो सकती है ?

श्रावक को तो इतना प्रामाणिक होना चाहिए कि जो एक वार मुख से कह दे वह वज्रलेख हो जाय। 'प्राण जाएँ पर वचन न जाई' यह उसका मुद्रालेख होना चाहिए। उसे सर्वस्व की परवाह न करके भी अपने दिये वचन का पालन करना चाहिए। उसका वचन अन्यथा नही होना चाहिए। जब ऐसा होता है तो लोग नेत्र मूँद कर उसकी वात पर विश्वास करते है। क्षण भर के लिए भी उस पर कोई अविश्वास नही कर सकता। मगर आज स्थिति और ही प्रकार की बन गई है। जिन्हे दूसरो को अपने पथ पर चलाना चाहिए था—चलने की प्रेरणा देनी चाहिए थी, वे स्वय पथभ्रष्ट हो रहे है। वे कैसे दूसरो को सही राह पर चला सकते है ? जो दीपक स्वय ही बुझ रहा है, वह दूसरो को क्या प्रकाश दे सकता है ?

तो निश्चय समझो की प्रामाणिकता के विना मनुष्य की कोई कीमत नही है। प्रामाणिकता ही मनुष्य को महत्ता प्रदान करती है। अप्रामाणिक मनुष्य स्वय अपना भी हित नही कर सकता तो दूसरो का तो कर ही क्या सकता है ? जो पुष्प स्वय ही निर्गन्ध है, वह दूसरो को सुगन्ध प्रदान करेगा, यह तो आशा ही कैसे की जा सकती है ?

साधु का दर्जा श्रावक से भी ऊँचा है। हम साधु कहलाते है तो हमारे अन्दर पूर्ण प्रामाणिकता होनी चाहिए। हमे साधु होने का गौरव प्राप्त है तो हम मे वास्तविक साधुता होनी ही चाहिए। जो साधुताहीन होकर भी साधु होने का दावा करता है, उससे वढ कर अप्रामाणिक—धोखेवाज और कौन होगा ?

सज्जनो ! तो श्रावक का भी जीवन इतना मजा हुआ होना चाहिए कि प्रत्येक परिस्थिति मे लोग उसका विश्वास करे। वह

जहॉ कही खडा हो, आसपास मे विश्वास और प्रामाणिकता का ही वायुमडल पैदा कर दे। श्रावक का जीवन ऐसे प्रकाशस्तम्भ के समान होना चाहिए, जिससे दुनिया प्रकाश लेती है। मगर आज कहाँ है आपके जीवन मे प्रकाश ? जब आपके जीवन मे प्रकाश होगा तभी तो दूसरे भी उसे ले सकेगे। आपका ही जीवन प्रकाशशून्य होगा तो दूसरो को कैसे प्रकाश मिल सकेगा ?

आज आप लोग श्रावक होने का दावा करते है और आर्य होने का अभिमान रखते है, परन्तु कहॉ है आपके जीवन मे आर्यत्व ? कहॉ है प्रामाणिकता ?

विदेशियो को लोग अनार्य कहते है। उन्हे आपके धर्म के सस्कार नही मिले है, फिर भी उनमे जो व्यावहारिक प्रामाणिकता है, वह क्या आपमे है ? हम तो गुणो के ग्राहक है। जो भ्रमर है, वह तो फूल की बहार ले ही लेता है, चाहे वह किसी का भी क्यो न हो ? वह तेरे-मेरे के झगडे मे नही पडता। इसी प्रकार हमे गुण ग्रहण करने चाहिए, फिर वे भले कही से भी मिले। हमे उदारभाव से गुणग्राहक होना चाहिए। तो जिनको हम धर्मविहीन और भौतिकवाद का पुजारी कहते है,उनके जीवन को देखो। आपको पता चलेगा कि बहुत-सी बाते उनमे ऐसी है जो आपके लिए भी अनुकरणीय है। उनका व्यापार और व्यवहार भारतीयो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिकतापूर्ण होता है। वे लोग अच्छी कह कर खराब चीज नही बेचते। जितना नापेंगे और तोलेगे, बराबर उतना ही होगा। कपड़ा कटपीस का होगा तो उस पर वही लिखा होगा। खराब होगा तो उस पर खराब ही लिखा होगा। वे अच्छी चीज़ मे खराब चीज मिला कर नही बेचेगे। इस प्रकार की प्रामाणिकता धर्म के बिना जीवन मे नही आती।

अगर व्यापारिक दृष्टि से देखा जाय तो भी तुम्हे जितना लाभ मिलना चाहिए, उतना नही मिलता है। प्रामाणिकता से कभी कोई घाटे मे नही रहता। सभव है, पहले-पहल ऐसा प्रतीत हो कि प्रामाणिक व्यवहार करने से हमे कुछ हानि हो रही है, किन्तु शीघ्र ही आपकी समझ मे आ जाएगा कि आप टोटे मे नही है। ज्यो ही आपकी प्रामाणिकता की छाप दूसरो पर लग जायगी, आपका व्यापार चमक उठेगा और आप अप्रामाणिक व्यापारी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त करेंगे। ऐसा करके आप अपने धर्म का महत्त्व बढाएँगे, अपनी आत्मा का भी कल्याण करेंगे और साथ ही लौकिक सफलता भी अधिक प्राप्त कर सकेंगे।

विलायतो मे भाव-ताव या मोल-तोल नही करना पड़ता। प्रत्येक चीज का मूल्य उस पर अकित रहता है। ग्राहक दुकान पर जाता है और मूल्य देख कर चुका देता है। वह जानता है कि कीमत ठीक ही लिखी है और कम नही होगी। दुकानदार पहले ही उचित कीमत लगाता है, अतएव कम-ज्यादा करने का प्रश्न ही खडा नही होता। बच्चा जाय या बूढा, स्त्री जाय या पुरुष, जानकार जाय या अनजान, एक ही बात है। ठगे जाने की कोई सभावना नही।

स्यालकोट की बात है। वहाँ छावनी मे गये तो एक भाई कहने लगे—हिन्दुस्तानी आते है तो दिमाग खाली कर देते है और अगरेज आते है तो चुपचाप माल ले लेते है और भाव के अनुसार दाम दे देते है।

अगरेजो से उनका क्या नाता था? पर जो सत्य है वह जबान पर आ ही जाता है।

अगरेज इस विशाल देश पर इतने लम्बे समय तक शासन कर सके, इसका कोई कारण तो होना ही चाहिए। उनमे कुछ ऐसी विशेषताये है जो आपको सीखने योग्य है। किसी की कितनी ही खूबसूरत बहू-बेटी क्यो न हो, असली नस्ल का अगरेज उसकी ओर बुरी दृष्टि से नही देखेगा। और हिन्दुस्तानियो मे क्या होता है ? धर्म-क्रिया—सन्ध्या आदि करते समय भी क्या उनका मन और दृष्टि वश मे रहती है ? कितने दुर्भाग्य की बात है कि जो स्थान धर्मस्थान कहलाते है, उनमे भी दुराचार की बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती है। मगर गिर्जाघर मे जाकर देखो तो वहाँ इतनी शान्ति मिलेगी कि सुई गिरने की आवाज भी सुनाई दिये बिना न रहे। वे बडी शान्ति के साथ उपासना करते है।

तो ये सब बाते उनसे सीखने योग्य है। गुण जहाँ से भी मिले, ग्रहण कर लेना चाहिए।

विलायत मे वहाँ की पार्लियामेट का एक सदस्य था, जिसका नाम फॉक्स था। वह ऊँचे दर्जे का आदमी था। वह इतना प्रामाणिक माना जाता था और लोगो को उसके वचनो पर इतना विश्वास था कि उसके विरोधी मन्तव्य वाले भी सराहना करते थे। सब पर उसकी छाप अकित थी।

एक बार वह अपने घर पर बैठा हुआ रुपये गिन रहा था। उसने किसी साहूकार से ऋण ले रक्खा था। सयोगवशात् उसी समय उसका साहूकार-बोहरा—आ पहुँचा। बही-खाता उसके साथ था। जब फॉक्स ने कर्ज माँगने वाले को देखा तो उसे आदर के साथ बिठलाया। साहूकार ने कहा—महाशय, मेरा कर्ज लिये बहुत समय

हो गया है। अभी तक उसका भुगतान नही हुआ। इस समय आपके पास रुपये है। अत दे दीजिये।

फॉक्स ने कहा—इसमे कोई शक नही कि मुझे कर्ज देना है और आपको लेना है।

साहूकार—तो फिर दे दीजिए, ऐसा अनुकूल अवसर फिर कौन जाने कब आएगा ?

फॉक्स—इस समय इन रुपयो मे से एक भी पाई मै आपको नही दे सकता।

साहूकार - तो क्या आप कर्ज अदा करना नही चाहते।

फॉक्स—नही, ऐसा नही है। परन्तु इस समय ये रुपये मै अपने मित्र शिरिड के लिए गिन रहा हूँ, क्योकि मै उससे रुपये लाया था और उसने मुझसे कोई दस्तावेज नही लिखवाया है। मौखिक ही लेनदेन हुआ है। इस जीवन का क्या भरोसा है ? अभी है और अभी नही। कदाचित् मेरी जिन्दगी अचानक समाप्त हो गई तो उसका रुपया मारा जा सकता है। अतएव मै पहले उसका रुपया चुका देना चाहता हूँ। इसके पश्चात् तुम्हारा कर्ज चुकाऊँगा। तुम्हारे पास मेरा लिखा दस्तावेज है। यदि मैं मर जाऊँ तब भी तुम मेरे लडके से रुपया वसूल कर सकोगे। परन्तु जिस दूसरे का ऋण मुझे देना है उसके पास कोई दस्तावेज नही है। यदि मेरी सन्तान मेरे बाद न चुकाए तो यह वसूल कैसे कर सकता है।

फॉक्स का स्पष्टीकरण सुन कर वह साहूकार अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पडा। उसने सोचा—यह आदमी नही देवता है। इसको दिया रुपया मारा नही जा सकता।

साहूकार इतना प्रभावित हुआ कि उसने फॉक्स के लिखे दस्तावेज को उसी समय फाड कर फैंक दिया।

कागज फाडते देख फॉक्स ने पूछा—आपने यह क्यो फाड दिया ?

साहूकार—महाशय फॉक्स, जब तुम्हारे जैसा प्रामाणिक व्यक्ति मेरा कर्जदार है तो फिर दस्तावेज का बोझ उठाये फिरने की आवश्यकता ही क्या है ? तुम्हारा निर्मल अन्त करण ही सर्वोत्तम दस्तावेज है। उससे बढ कर दूसरा कोई दस्तावेज नही हो सकता। इस दस्तावेज़ को आग भस्म कर सकती है, चोर चुरा कर ले जा सकता है, पानी मे वह गल सकता है, पर आपकी जबान का दस्तावेज अमर है। उसके लिए कोई खतरा नही है।

सज्जनो, अगर विचार करो और समझो तो यह कितनी बडी बात है ! अगर फॉक्स जैसे मनुष्य ही इस धरती पर हों तो पारस्परिक अविश्वास, सन्देह और बेईमानी की कही आवश्यकता ही न रहे।

किसी ने किसी से पूछा—मैं कैसा हूँ ?

उत्तर मिला—भाई, तू अपने ही दिल से पूछ ले।

तू जैसा है, ससार वैसा ही है। यदि तू भला है तो तेरे लिए ससार भला है।

साहूकार की उदारता की बात सुन कर फॉक्स को भी आश्चर्य हुआ। दस्तावेज़ के फटने से वह प्रभावित भी हुआ। तब उसने कहा—महाशय, दस्तावेज़ फाड़ डालने के कारण आप भी मेरे उसी मित्र की श्रेणी मे आ गए। अब सारे मामले पर मुझे दुबारा विचार करना पडेगा।

मैंने आपसे पहले और मित्र से पीछे कर्ज लिया है। उसके पास गुन्जाइश है और आप माँगने आए हो, अत प्रतीत होता है कि आपको रुपए की आवश्यकता है। तो यह रुपये मै आपको ही देता हूँ। उस मित्र को पीछे दूँगा।

फॉक्स ने हिसाब करके साहूकार को रुपए देने चाहे तो साहूकार ने कहा—महाशय, ये रुपये जिसके निमित्त आप गिन रहे थे, पहले उसी को दे दीजिए। मैं पीछे ले लूगा।

मगर फॉक्स न माना और उसने आना-पाई के साथ उसका रुपका चुकता कर दिया।

सज्जनो ! जब तक साहूकार को पूरा भरोसा नही था, तब तक उसे अपनी रकम की चिन्ता हो रही थी। पर जब देने वाले मे सत्य और ईमान था और लेने वाले मे भी विश्वास आ गया तो रुपये मिलने मे कुछ भी देर नही लगी।

तो अविश्वासी मनुष्य दुनिया मे भटकता फिरता है, किन्तु अपने उद्देश्य मे सफल नही होता।

इसे कहते है जीवन की प्रामाणिकता। इस प्रकार की प्रामाणिकता जीवन को कितना पवित्र, उच्च, सात्विक, और सुखमय बना देती है !

आज का सामाजिक जीवन कितना गदा, कितना कलुषित और कितना शकाशील बन गया है ? आज दस्तावेज पर, अगूठे पर, और गवाह पर भी भरोसा नही किया जा सकता। लोग कहते हैं—

छोटे-छोटे मुकदमे, मोटे-मोटे गवाह ।
गरमागरम कचौडियाँ खाकर लोग हुए है तवाह ॥

आज जिधर देखो उधर ही वडे-वडे मगर छोटी-छोटी मछलियो को निगल रहे है और निकल कर डकार भी नही लेते। फिर भी वे समाज मे चौधरी वने रहते है। किन्तु यह सव चन्द दिनो की लीला है ।

अगर धर्म की रक्षा करते हुए दु ख के दिन निकालोगे तो सुख का समय जाते विलम्ब नही लगेगा, किन्तु धर्म को छोड कर सुख मे भी रहोगे तो परिणाम मे दु ख उठाना ही पडेगा ।

तुलना करके देखो तो सही । कहाँ भगवान् महावीर के देश मे रहने वाले आज के आर्यो का जीवन और कहाँ दूर देश मे रहने वाले अगरेजो का जीवन ! दोनो के जीवन मे कितना अन्तर है ! औरो की तो वात छोड दीजिए, आज कई लोग साधु के समक्ष प्रतिज्ञा करके और किसी वात का वायदा करके भी मुकर जाते है। भारत वासियो की प्रामाणिकता का यह हाल है ।

परन्तु निश्चय मानो कि अन्तत प्रामाणिकता ही साथ देगी । यह जीवन वार-वार मिलने वाला नही है। अत इसे सफल और सुन्दर वनाने के लिए तुम्हारी प्रत्येक क्रिया मे, वोली मे और व्यवहार मे प्रामाणिकता होनी चाहिए और दूसरो को विश्वास होना चाहिए ।

मूल के विना किसी को व्याज नही मिल सकता। अगर मूल ही कट गया तो फिर छाया, फल, फूल, पत्ते आदि भी नही मिलेंगे ।

उनकी लकडियाँ वन जाएँगी और आग मे जला दी जाएँगी। जो मनुष्य अपने जीवन से पिछड़ जाते है, उनकी यही दशा होती है। जो अपने मार्ग से विचलित हो जाते है, वे दुनिया मे जलील होकर अपना जीवन पूरा करते है। वे न इधर के रहते है और न उधर के रहते है।

यदि तुम दूसरो के काम आओगे तो दूसरे भी तुम्हारे काम आएँगे। कई लोग रोना रोते है—क्या करे, हमने तो सब को, मित्रो को, ग्राहको को, कुटुम्बियो को देख लिया, कोई भी मेरे काम नही आया।

हाँ भाई, तूने सब को देख लिया, सब की आजमाइश कर ली, किन्तु यह तो बता कि तू भी कभी किसी के काम आया है क्या? जब तू किसी के काम नही आया तो तेरे काम कौन आएगा?

सज्जनो, एक बडा भारी व्यापारी था। आस-पास के ग्रामो मे उसका लाखो का लेनदेन था। जब गाँवो के लोग उसकी दुकान पर माल खरीदने के लिए आते तो वह भोजन की मनवार करना चाहता था, किन्तु हवेली मे श्रीमती जी ऐसी कटक और लोभिन थी कि किसी को जिमाना ही नही चाहती थी। सेठानी जिमाना तो दूर रहा, पानी भी नही पिलाती थी। बेचारा सेठ आढतियो को जिमाना बहुत चाहते हुए भी सेठानी की प्रकृति का विचार करके मन मसोस कर रह जाता था और मनवार भी नही कर पाता था।

सेठ, सेठानी के गुस्से से बहुत घबराता था। भद्र पुरुष कलहशीलो से घबराते ही है। इस कारण आढती लोग भूखे

ही वापिस चले जाते थे। इसी प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये।

सेठ को कभी-कभी उघाई-वसूली के लिये देहात मे जाना पडता था। वहाँ वे आढतिया भी उनके साथ वही सलूक करते जैसा सेठ ने उनके साथ किया होता था। परिणामस्वरूप कई वार सेठ जी को भूखा रहना पडता या पैसे देकर पूडियाँ वनवा कर पेट भरना पड़ता था। कई वार घर से ही भोजन साथ ले जाते और किसी तरह काम चलाते थे।

समय आया और सेठानी जी ने सदा के लिए कूच कर दिया। किन्तु उनके घर मे जो पुत्रवधू आई थी, वह कुलीन घर की और उदार हृदय की नवयुवती थी। वह खाना और खिलाना भी जानती थी। अतएव अव जो भी आढतिया आते, सेठ जी उन्हे मनवार कर के भोजन कराने के लिए घर ले जाते और पुत्रवधू आदर्श गृहिणी की भाँति उनका यथोचित सत्कार करती और प्रसन्नतापूर्वक भोजन कराती थी।

यह क्रम चलते भी वहुत दिन हो गए। एक वार सेठ जी पुन· वसूली के लिए जाने को तैयार हुए तो पुत्रवधू से वोले—वेटा, पूडियाँ वना देना। आज मे देहात जाऊँगा।

पुत्रवधू वोली–पिताजी, मैंने सव कुछ पहले ही वहाँ भेज दिया है। आप निश्चिन्त होकर पधारे।

सेठ—वहू, तूने कहाँ भेज दिया है?

वहू—जहाँ कही आप पधारेंगे, वहाँ सव जगह भेज दिया है। आप जहाँ चाहेंगे वही सव कुछ मिलेगा।

वहू की अटपटी सी बात सेठ जी की समझ मे पूरी तरह तो नही आई, फिर भी उन्होने अधिक तर्क-वितर्क करना उचित न समझा। वहू की समझदारी पर उन्हे पूरा विश्वास भी था ही।

सेठजी देहात पहुँचे और आढतिया की दुकान पर पहुँचे। इस बार उसने सेठ जी की वडी खातिर की और घर लेजाकर प्रसन्नता-पूर्वक माल-मिष्टान्न जिमाया।

इस प्रकार वह गाँव मे भी गए, सर्वत्र उनकी मनवार हुई। सवने प्रेमपूर्वक उन्हे भोजन करवाया। कइयो ने एक-एक दो-दो दिन ठहरने का आग्रह किया और कहा—सेठ साहव, हमारे यहाँ भोजन किए विना तो आप नही जा सकते।

यह हाल देख कर सेठ जी वहू की वात समझ गए। उन्हे मालूम हो गया कि 'मैने सब जगह भेज दिया है' वहू के इस कथन का आशय क्या था ?

सज्जनो ! थोडे ही दिनो मे कितना अन्तर पड गया ? कहाँ तो सेठ पूडियाँ बाँध कर ले जाता था और कहाँ भोजन की ऐसी मनवार होने लगी। एक समय या कि कोई पूछता तक नही था और अव लोग पिण्ड नही छोडते थे ! आखिर इस परिवर्तन का कारण क्या था ?

सज्जनो ! वह भी एक जीवन था कि पुत्रवधू ने अपने जीवन का सौरभ सर्वत्र विखेर दिया।

स्पष्ट है कि जो स्त्री बुद्धिमती और उदारहृदय होती है, वह घर को स्वर्ग वना देती है। इसके विपरीत फूहड, जड और कलहशीला गृहिणी स्वर्गसदृश घर को भी नरकतुल्य वना डालती

है। सच पूछो तो परिवार के दु ख-सुख की चावी गृहिणी के हाथ मे है। सुयोग्य स्त्री अभावो की स्थिति मे भी परिवार का ऐसी कुशलता से सचालन करती है कि अभाव खटकता नही। अयोग्य स्त्री सव प्रकार की सामग्री के विद्यमान रहने पर भी किसी को सन्तुष्ट नही कर पाती।

तो जो लोग ढोल पीटते है कि हमने ठोक वजाकर दुनिया को देख लिया—कोई हमारे काम नही आया। उनसे यही कहना है कि—जरा अपने दिल से भी तो पूछ लो कि तुम किसके काम आए हो ?

तो हृदय को उदार वनाओ और मोह की सकीर्ण मर्यादाओ को तोड डालो। सव अनर्थो के मूल मोहनीय कर्म का उन्मूलन कर दोगे तो केवलज्ञान प्रकट होकर ही रहेगा।

इस प्रकार जो मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो का क्षय करके आत्मिक गुणो को विकसित कर लेते है; वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

व्यावर
२३—१०—५६

———

मोहविजय का मार्ग

उपस्थित महानुभावो !

कल आप सुन चुके है कि यह आत्मा जब अपने आत्मिक बल से, आत्मज्ञान से या विवेक से राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर लेती है, इन तीनो विरोधी तत्त्वो को नष्ट कर देती है और अपनी ओर उन्मुख हो जाती है, तो उसमे एक विशेष प्रकार की उत्क्रान्ति आ जाती है, जागृति आ जाती है, उसका स्वरूप चमकने लगता है, उसे अद्भुत प्रकाश की अनुभूति होने लगती है और तब वह अपने आत्मतत्त्व को सीमचीन रूप से पहचानने योग्य बनती है। उस समय उसे दुनिया के भौतिक पदार्थ हेय प्रतीत होने लगते है। यह तो आवश्यक नही कि उसी समय वह उन सब का परित्याग कर दे, किन्तु उनकी ओर अरुचि अवश्य उत्पन्न हो जाती है। भोगोपभोग की सामग्री मे जैसा आकर्षण पहले था, वह नही रह जाता। सब बाह्य पदार्थो के प्रति उसमे अनासक्ति और अलिप्तता आ जाती है। यही वह अवस्था है जब आत्मा अपने आपको ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना के योग्य बना लेती है।

जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चरित्र के योग्य बना लिया है, उसमे इतना सामर्थ्य आ जाता है कि समस्त कर्मो पर विजय प्राप्त करने मे उसे देर नही लगती। उसकी क्षमता का इतना विकास हो जाता है कि उसके समस्त कर्म निर्मूल हो जाते है।

यह भी बतलाया जा चुका है कि कर्मों के नाश का जो क्रम है, उसमे सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की बारी आती है। गुणस्थान कर्म के हिसाब से कहा जाए तो दसवे गुणस्थान के चरम समय मे मोहनीय कर्म का क्षय होता है। तत्पश्चात् क्षयक श्रेणी पर आरूढ आत्मा ग्यारहवे गुणस्थान को लाँघ कर सीधा बारहवे गुणस्थान मे जा पहुँचता है। इस गुणस्थान की काल-मर्यादा सिर्फ अन्तर्मुहूर्त की है। अन्तर्मुहूर्त जितने अल्पकाल मे ही आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मो का क्षय कर डालती है।

सज्जनो ! इस कथन पर गभीर विचार करोगे तो अनेक तथ्य आपके सामने आ जाएँगे। मोहनीय कर्म तो महाप्रबल है ही, मगर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मो की शक्ति भी कुछ कम नही है। इन्होने क्रमश. केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तबल के आत्मिक खजाने पर ताला लगा रक्खा है। जीव की इन महान् शक्तियो को आच्छादित कर दिया है। मगर मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर इनकी जड इस प्रकार हिल जाती है कि फिर इनका समूल विनाश होने मे अन्तर्मुहूर्त जितना समय ही लगता है।

तो मोहनीय कर्म ही आत्मा का अत्यन्त शत्रु है। उसी ने आत्मा की शक्ति को कुठित कर रक्खा है। जब तक वह आत्मा पर हावी रहता है, आत्मा दीन-हीन और असमर्थ बना रहता है। धीरे-धीरे उस पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो मार्ग निष्कटक हो जाता है। फिर कोई बडी बाधा नही रह जाती। मगर इस मोह को जीतना ही कठिन है। इसको नष्ट करने के लिए सम्पूर्ण शक्ति के साथ जूझना पडता है। प्रारम्भ से लेकर दसवी श्रेणी गुणस्थान तक इससे संघर्ष करना पडता है। चौदह गुणस्थानो मे से दस गुणस्थान

इस से निपटने मे लगते है। ऊपर के शेप गुणस्थानो मे बाकी के सातो कर्म भी समाप्त कर दिये जाते है।

शास्त्र की इस प्ररूपणा से स्पष्ट हो जाता है कि यह मोहनीय कर्म कितना प्रवल है। ज्यो ही मोह का सर्वथा विनाश हुआ कि मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यव और केवलज्ञान को ढँक रखने वाले ज्ञानावरण का, दर्शन गुण को आच्छादित करने वाले दर्शनावरण का और अनन्तवीर्यशक्ति को दवा रखने वाले अन्तराय कर्म का सहज ही विनाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म के क्षय से आत्मा मे इतना सामर्थ्य आ जाता है और आत्मा को शुद्ध भावना का ऐसा पवन चलाता है कि शेष तीन घातिये कर्म उसके सामने ठहरने मे सर्वथा असमर्थ हो जाते है और आत्मा रूपी आकाश स्वच्छ हो जाता है।

जब आत्मा-आकाश कर्म मेघो से धुधला होता है तो लोक मे रहे हुए पदार्थ भी धुधले प्रतीत होते है और आकाश जितना स्वच्छ होता है, आकाशगत पदार्थ भी उतने हो स्वच्छ दिखाई देते है।

वास्तव मे देखा जाय तो आकाश निराकार है, अमूर्त है और उसमे हमे जो मलीनता दृष्टिगोचर होती है, वह उसे छू भी नही पाती है। वह आकाश को विकृत या दूषित नही कर सकती, क्योकि आँधो से उडाई जाने वालो रेत, धूल, धूम आदि मूर्तिक-साकार पदार्थ है और आकाश निराकार है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से आकाश निर्मल होने पर भी मलीन पदार्थो के ससर्ग के कारण मलीन दिखाई देता है। जब धूल, धूम, रेत, मेघ आदि पदार्थ हट जाते है तो आकाश निर्मल एव स्वच्छ दिखाई देने लगता है।

आकाश अमूर्त द्रव्य है। इसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नही है। वह अवर्ण, अगन्ध, अस्पर्श, अरस और अरूपी है। जैन शास्त्रों मे द्रव्य छ माने गये है। इस असीम और अतिशय विशाल दिखाई देने वाले विश्व के मूल को खोजा जाय तो मूल मे तो दो ही तत्त्व है—जीव-चेतन और अजीव-जड। उपरोक्त इन दो तत्वो के ही विशेष रूप छ द्रव्य माने गये है। उनके नाम ये है—जीव, पुद्‌गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश और काल। इन छ द्रव्यों मे से सिर्फ पुद्‌गल द्रव्य ही रूपी है, मूर्तिक है, साकार है, जिसे दूसरे लोग मेटर, माया, प्रकृति या मादा आदि शब्दो से पहचानते हैं।

सक्षेप मे, एक मात्र पुद्‌गल द्रव्य ही मूर्त्तिमान् है और शेष ५ द्रव्य अमूर्त्तिक है। आत्मा भी आकाश की तरह अमूर्त्तिक है। उसमे रूप, रस, गन्ध, वर्ण, आकार आदि कुछ भी पौद्‌गलिक धर्म नही है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि जीव अमूर्त्त है तो हमे यह चलते-फिरते गोरे-काले आदि क्या दिखाई देते है? इसका उत्तर यह है कि हमे जो गोरे-काले, अन्धे, लगडे, कुवडे, बालक, नवयुवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, नपुसक आदि-आदि पृथ्वीपटल पर जो नक्शे, चित्र या साक्षात् बोलती फिल्म नज़र आती है, ये सब आत्मा के रूप नही हैं। ये तो पुद्‌गल के ही विभिन्न दृश्य हैं। हमे जो भी रूप-रेखाएं खिची दिखाई देती है, वे आत्मा की नही हो सकती।

मान लीजिए, किसी मनुष्य ने काली पोशाक पहन ली है। थोड़ी देर बाद उसने वह पोशाक उतार कर लाल, फिर हरी और फिर सफेद पहन ली। तो यहाँ सिर्फ पोशाक बदली गई है, पहनने वाला नही बदला है। वस्त्रो के बदल जाने पर भी उन्हे पहनने

वाला एक ही है। ठीक यही स्थिति आत्मा के सम्बन्ध मे समझना चाहिए। किसी आत्मा ने काला जामा तो किसी ने पीला, किसी ने लाल तो किसी ने श्वेत, धारण कर रक्खा है। किसी ने ठिगना तो किसी ने लम्बा और किसी ने बाका-टेढा चोगा पहना है। वे समय-समय उसे उतार कर बदलते भी रहते है। यह सब नामकर्म रूपी कारीगर की कारीगरी के नमूने है। इसी कारण लोग इस आत्मा रूपी वोलती-चलती फिल्म को देख रहे है। जव हम इन चित्रो को देखते है तो समझो जीव को नही शरीरादि पुद्गल को ही देखते है।

इस सम्बन्ध मे एक सरल-सा सूत्र स्मरण रख लीजिए तो वह सदैव काम आएगा। वह यह है कि—हमे जो कुछ चर्म-चक्षुओ से दिखाई देता है, वह सब पुद्गल ही है। किन्तु यह नही कहा जा सकता कि हमे सर्व पुद्गल दिखाई देता ही है, क्योकि वहुत-से सूक्ष्म पुद्गल ऐसे भी है जो नजर नही आते, जैसे परमाणु, द्व्यणुकन इतना ही नही अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी सूक्ष्म होने से वहुत सारे हमे दिखाई नही देते, पर जो कुछ भी नेत्रो से हम देख पाते है, वे वहुत स्थूल पुद्गल होते है।

तो मै कह रहा था कि आकाश निराकार है और उसे कोई स्थूल वस्तु स्पर्श नही कर पाती, अपवित्र नही कर सकती। क्योकि साकार साकार को ही प्रभावित कर सकता है, निराकार को नही। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। इस प्रकार आकाग निराकार है, किन्तु जव रज ऊपर चढ जाती है या वादल छा जाते है, तो आकाग मद, धुधला प्रतीत होने लगता है और हम भी कह देते है कि आज आकाश साफ नही है।

मगर भूल न जाइए कि आकाश का रज या मेघ के साथ जो सम्बन्ध है, वह सयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य नही है। अतएव वस्तुत आकाश स्वच्छ होने पर भी परसयोग के कारण ही मलीन दीखता है।

इसी प्रकार आत्मा अमूर्त्त है आत्मा और आकाश मे अमूर्त्तत्व की दृष्टि से समानता होने पर भी वडा अन्तर है। 'अन्तर महदन्तरम्।' आकाश जड है जब कि आत्मा चेतन है। दोनो मे यह बड़ा भारी पार्थक्य है। अतएव सर्वांश मे आत्मा की आकाश के साथ तुलना नही की जा सकती।

सज्जनो! ससार मे जितनी भी उपमाएँ हैं, सब आशिक रूप मे ही होती है। अगर एक वस्तु के समस्त धर्म किसी दूसरी वस्तु मे मिल जाएँ तो उन दोनो मे कोई भेद ही न रहे। दोनो एक ही रूप हो जाएँ और फिर तुलना भी सम्भव न हो। तो तुलना किये जाने वाले पदार्थों मे सदृशता भी होती है और विसदृशता भी होती है। परन्तु सदृश अश को प्रधान करके उपमा दी जाती हैं और उस समय विसदृश अश को गौण कर दिया जाता है। तभी उपमा सम्भव होती है।

इस प्रकार द्रव्यत्व और अमूर्तत्व की दृष्टि से आत्मा और आकाश सदृश हे, तथापि आत्मा चेतन है और आकाश अचेतन हे। आकाश नही जानता कि वह कितने पदार्थों को अवगाहन दे रहा है। उसमे जानने और समझने की बुद्धि ही नही हे। जानने और पहचानने की शक्ति अगर किसी मे है तो वह चेतन मे ही हैं। अगर जड मे भी यह शक्ति होती तो दोनो मे कोई भेद ही न रहता। जीव

और अजीव के बीच जो विभाजन रेखा है वह चेतना का होना और न होना ही है।

आत्मा का लक्षण उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन है और आकाश का लक्षण अवकाश देना है। ये दोनो द्रव्यो के असाधारण गुण है।

आत्मा कितनी ही पतित अवस्था मे क्यो न चली जाय, फिर भी उसमे चेतना विद्यमान रहती है। कल मैने कहा था कि चेतना मन्द हो सकती है पर वन्द नही हो सकती। इसलिए शास्त्रकारो का कथन है कि आत्मा मे जिस समय आत्मभाव जागृत होता है, उस समय उसमे महान् शक्ति आ जाती है। वह शक्ति इतनी जबर्दस्त होती है कि इस समय हमारी कल्पना और तर्कणा मे भी नही आ सकती। इस प्रकार की शक्ति आ जाने पर आत्मा विरोधी तत्त्वो को ललकारती है, सामने जाकर उन्हे चुनौती देती है और आह्वान करती है कि जिस-जिस को सामने आना हो, आ जाओ।

इस प्रकार हुकार करके आत्मा कर्म-शत्रुओ के साथ जूझती है और एक-एक करके उन्हे पराजित करती जाती है।

यह चेतना और जड़ का मुकाविला है, क्योकि आत्मा चेतन और कर्म जड है। यह न समझिए कि जड मे कोई शक्ति नही होती। नही, चेतन की तरह जड मे भी अनन्त शक्तियो का भण्डार भरा हुआ है। शक्ति न होती तो वह आत्मा की ऐसी दुर्दशा कैसे कर पाता ? अनन्त-अनन्त काल से आत्मा भव-अरण्य मे भटकता फिरता है और नाना प्रकार की व्याधियो एव विपत्तियो का भाजन वन रहा है, यह जड की शक्ति नही तो क्या है ?

तो जड कर्म के सेनापति भी वडे फौलादी है जो निश्चित समय पर वटन दवते ही अपनी-अपनी गोलावारी शुरू कर देते है। कहते है जर्मन-रूस के युद्ध मे जर्मनी ने फौलाद के सिपाही तैयार किये थे और वे जहाँ-तहाँ मोर्चे पर सेना के रूप मे खडे कर दिये गये थे। वे वटन दवाते ही अपना जौहर दिखलाने लगते थे—दनादन गोलियाँ चलाने लगते थे।

अभिप्राय यह है कि कर्म जड होने पर भी उनकी शक्ति वडी प्रचण्ड है और वे आत्मा को वन्दर की तरह नचा रहे है। मगर आत्मा तभी तक यह नाच नाचती है जव तक उसे अपने स्वरूप का भान नही होता। जव वह अपनी सामर्थ्य को पहिचान लेती है, तव उसके पराक्रम के सामने कर्मो की एक नही चलती और वह कर्मो को नष्ट-विनष्ट करके ही छोडती है।

हनुमान रावण के नागपाश मे तभी तक पडा रहा जव तक उसने हुकार नही की।

रावण ने हनुमान को नागपाश मे जकड कर कहा—देख तू, हमारा पक्ष छोड कर शत्रुपक्ष मे मिल गया। इसी कारण तुझे यह दिन और यह दुख देखना पडा। तू क्या समझता है! राम वड़ा कायर है। उसने तुझे फँसाने के लिए यहाँ भेज दिया और स्वय नही आया।

हनुमान विना किसी क्षोभ या घवराहट के, मस्ती के साथ, रावण की वाते सुनता रहा और फटकारो को भी सहन करता रहा। मगर जव उसे स्मरण आया कि मैं 'महावीर' कहलाता हूँ तो उसका वीरत्व जाग उठा। उसी समय उसने एक ऐसा झटका दिया कि नागपाश टुकडा-टुकड़ा हो गया। कच्चे धागे की तरह टूट गया।

और हनुमान रावण के मुकुट को किधर का किधर फैंक कर राम के पास आ गया।

तो बन्धन कब टूटा? जब महावीर अनुमान को अपने सामर्थ्य का भान हुआ और अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ। इसी प्रकार जब आत्मा को अपने स्वरूप का परिज्ञान होता है और आत्मा मे आत्मभाव जागृत हो जाता है, तो इस महावीर आत्मा को कर्मपाश तोडते देर नही लगती। बस, कठिनाई है तो यही कि उसे अपने स्वरूप का भान कैसे आवे और जागृति कैसे उत्पन्न हो?

रोग को दूर करना उतना कठिन नही, जितना उसे समझ लेना कठिन है। अतएव आत्मस्वरूप के परिज्ञान के लिए और आत्मा मे जागृति लाने के लिए ही साधना की आवश्यकता है। इतना हो जाने पर कर्मों के विनाश मे देरी नही लगती।

जैसा कि कल बतलाया गया था, कर्मनाश के क्रम मे पहला स्थान मोहनीय कर्म का है। मोहनीय का नाश होते ही ज्ञानावरण के साथ ही साथ दर्शनावरण का भी क्षय हो जाता है। जैसे आँखो पर पट्टी बाँध देने से देखने की शक्ति रहने पर भी आँखे देख नही सकती, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के उदय से आत्मा की दर्शन-शक्ति विलुप्त हो जाती है। जब दर्शनावरण का क्षय हो जाता है तो अनन्तदर्शन अर्थात् केवलदर्शन का अविर्भाव हो जाता है।

केवलदर्शन के पर्याय अनन्त है। पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन, यह बारह प्रकार के उपयोग है। इनमे से प्रत्येक के अनन्त-अनन्त पर्याय है।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के पर्याय भी अनन्त है और केवलदर्शन के भी अनन्त हैं तो फिर इन

मे अन्तर ही क्या रहा ? सभी को बराबर ही क्यो न मान लिया जाए ? परन्तु सज्जनो ! अनन्त के भी अनन्त भेद है। अनन्त-अनन्त मे भी बडा अन्तर है। एक सौ भी सैकडा है और ९९९ तक भी सैकडा है। इसी प्रकार चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के अनन्त पर्यायो से केवलदर्शन के अनन्त पर्याय अनन्तगुणा अधिक है। सामान्य रूप से अनन्त होने पर भी जब उन के तारतम्य का विचार किया जाता है तो महान् अन्तर सा प्रतीत होने लग जाता है।

एक सैकडा भी सैकडा है और ९९९ भी सैकडा ही है, फिर भी जैसे इनमे अन्तर है, उसी प्रकार मितिज्ञान, श्रुतज्ञान चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन के पर्यायो मे भारी अन्तर है।

दर्शनावरण कर्म के नौ रूप है—स्वभाव है—(१) चक्षुदर्शनावरण, (२) अचक्षुदर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवल दर्शनावरण, और (५—९) पाँच निद्राएँ अर्थात् निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्थानगृद्धि।

आँखे होने पर भी उन पर पर्दा आ जाना, जिसके कारण दिखाई न दे, चक्षुदर्शनावरण है। यह दो प्रकार का है—चक्षु-आवरण और चक्षुविज्ञानावरण। आँख की ही प्राप्ति न होना चक्षु-आवरण है। चक्षु प्राप्त हो जाएँ किन्तु उनसे जो काम लिया जाता है वह न लिया जा सके, अर्थात् उनमे देखने की शक्ति न हो, चक्षुओ पर पर्दा आ जाए, यह चक्षुविज्ञानावरण है।

चक्षु-आवरण वाले जीव अनन्त है। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय

जीव इसी कोटि मे है। इन जीवो को आँखे मिली ही नही है। अगर उनके चक्षु-आवरण का उदय न होता तो उन्हे भी चक्षु अवश्य मिलती। यह जीव जब तक इन योनियो मे रहेगे तब तक उन्हे चक्षु की प्राप्ति नही होगी। चतुरिन्द्रिय दशा प्राप्त होने पर कही आँखे मिलती है।

आँखे होने पर भी कई जीव ऐसे है जिनकी आँखो मे रोशनी नही होती। मै जोधपुर गया तो देखा कि गाय के एक बच्चा उत्पन्न हुआ। जन्म से ही उसकी आँखो मे प्रकाश नही था। वह इधर-उधर टकरा कर आखिर मरण-शरण हो गया। ऐसे जीवो को चक्षु-विज्ञानावरण कर्म का उदय समझना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसे जीव तो है जिन्हे कान, नेत्र, नाक और जिह्वा नही मिली है, किन्तु ऐसे जीव कौन-से है जिन्हे स्पर्शेन्द्रिय भी प्राप्त न हो ?

इस प्रश्न के उत्तर मे शास्त्रकार कहते है कि ऐसे जीव भी अनन्त है। जिन जीवो ने अपने पूर्वभव के शरीर का त्याग कर दिया है मगर अभी तक नवीन शरीर ग्रहण नही किया है, जो रास्ते मे है और विग्रहगति कर रहे है, ऐसे जीव स्पर्शेन्द्रिय विहीन है। इद्रियो का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ था। उसका त्याग करते ही इद्रियो का सम्बन्ध भी छूट गया। अब उन्हे एक भी द्रव्येन्द्रिय प्राप्त नही है। अगली योनि मे जहाँ जाना है, वहाँ पहुँचेगा और इन्द्रिय पर्याप्ति के योग्य पुद्गलो को ग्रहण करके उन्हे इन्द्रिय रूप मे परिणत करेगा तब उसे उस योनि के योग्य इन्द्रियों की प्राप्ति होगी। वहाँ उसे नया घर बसाना पड़ेगा और नयी दुनिया बसानी पडेगी। अनन्त-अनन्त काल से यह जीव नया घर-ससार बसाता चला आ रहा है। अभी तक इसकी स्थायी इमारत नही बन पाई है।

कभी-कभी यह जीव नया घर वसाने की कोशिश करते-करते ही अचानक चल वसता है। घर मे जितनी चीजे वसानी थी, वे भी पूरी नही वसा पाता और अपर्याप्त अवस्था मे ही मर जाता है।

इस प्रकार जो नया जन्म ग्रहण करने के लिए जा रहे है और नियत स्थान पर नही पहुँच पाए है अथवा पहुँच कर भी इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी नही कर सके है, वे सब जीव स्पर्शनेन्द्रिय से भी रहित हैं।

तो चक्षु पर आवरण आ जाना या जिस कर्म के उदय से चक्षु पर आवरण आ जाय वह चक्षुर्दर्शनावरण कर्म है, तथा चक्षु के अतिरिक्त शेप चार इन्द्रियो की शक्ति को आच्छादित करने वाला कर्म चक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है। जिस शक्ति से हम एक जगह वैठे-वैठे योजनो दूर के रूपी पदार्थों का दर्शन—सामान्य ज्ञान—कर सके, वह अवधिदर्शन है। उसे ढक देने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है। समस्त लोकालोक के देखने की शक्ति को आवृत कर देने वाला कर्म केवलदर्शनावरण है। पाच प्रकार की निन्द्रा भी इसी दर्शनावरण कर्म के उदय से आती है। वह निद्रा इस प्रकार है—

(१) निद्रा—साधारण नीद जो सरलता से भग हो जाय।

(२) निद्रानिद्रा—जो कठिनाई से भग हो ऐसी गाढी नीद।

(३) प्रचला—वैठे-वैठे निद्रा आना।

(४) प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते आने वाली निद्रा।

(५) स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा मे वडे-वडे दुस्साध्य कार्य किये

जा सके, जिन्हे जागृत अवस्था मे करना सम्भव नही होता।

सज्जनो! जब यह आत्मा उक्त तीन दोषो को समूल नष्ट कर देती है तो इस नौ प्रकार के दर्शनावरणकर्म का भी नाश हो जाता है।

दर्शनावरण कर्म के साथ ही साथ सब प्रकार की प्राप्ति मे विघ्न डालने वाला अन्तराय कर्म भी नष्ट हो जाता है। अन्तराय कर्म के पाच रूप है, जिन्हे पाँच प्रकृतियाँ कहते है। यथा—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) बलवीर्यान्तराय।

(१) दानान्तराय—दान की सामग्री होने पर भी जिस कर्म के उदय से दान न दिया जा सके। आप देखते ही है कि कई लोग धन होने पर भी और सब पदार्थ एव सुविधा होने पर भी दान नही दे सकते। वे उस धन की सिर्फ रखवाली ही करते है। इसका कारण यही है कि उन्होने दानान्तराय कर्म बाँध रक्खा है।

दानान्तराय कर्म किस प्रकार बँधता है? दान देने वाला दे रहा है और लेने वाला ले रहा है, किन्तु तीसरा देखने वाला कहता है—देखो, बिलकुल बाबाजी बनने पर तुला हुआ है! कैसी बेरहमी के साथ पैसा उड़ा रहा है! फिर प्रकट मे कहता है—अरे, क्या तुम्हे बाबाजी बनना है? इस प्रकार दान देने वाले को रोकना, अनुत्साहित करना, उसका अपवाद करना और जरूरत वाले की जरूरत पूरी होने मे विघ्न डालना दानान्तराय कर्म के बन्ध का कारण है।

(२) लाभान्तराय—कई लोग दिन भर मेहनत करते हैं, मजदूरी करते हे, खून का पसीना बनाते है, फिर भी आजीविका प्राप्त नही कर पाते। समझना चाहिए कि उन्होने लाभान्तराय कर्म का बन्ध किया है।

लाभान्तराय कर्म का बन्ध किसी के लाभ मे विघ्न डालने से होता है। कल्पना कीजिए—किसी की दुकान पर कोई ग्राहक जा रहा हो तो उसे बरगला देना कि—'अरे,कहाँ फँस रहे हो ? वह पूरा माल पल्ले नही डालता है। मेरे यहाँ पूरा तोला जाता है।' इस प्रकार कह कर उस दुकानदार के लाभ मे विघ्न डालने से लाभान्तराय कर्म बँधता है। इसी का फल है कि मनुष्य को कठिन परिश्रम करने पर भी लाभ नही हो पाता। अतएव दूसरे के लाभ मे विघ्न डालना अपने ही लाभ मे विघ्न डालने की तैयारी करना है।

(३) भोगान्तराय—पदार्थ दो प्रकार के हैं—भोग्य और उपभोग्य। भोग्य पदार्थ वे है जो सिर्फ एक ही बार काम मे आते है और उपभोग्य पदार्थ बार-बार भोग मे लाये जाते हैं। पानी पिया दूध पिया, नाना प्रकार के मिष्टान्न खाये, रोटी खाई किन्तु पेट मे पहुँचने के पश्चात् उनके स्वरूप मे परिवर्तन हो गया। वे दोबारा काम मे नही आ सकते। एक बार खा लिया सो खा लिया, पी लिया सो पी लिया। जो खाया सो मल बन गया और पी लिया सो मूत्र बन गया। अब दूसरी बार उसे नही खा-पी सकते। इस प्रकार एक ही बार काम मे आने वाले पदार्थ भोग पदार्थ कहलाते हैं। इन की प्राप्ति में विघ्न डालने वाला कर्म भोगान्तराय कर्म कहलाता है।

(४) उपभोगान्तराय—जो पदार्थ पुन-पुन काम मे आते है, उन्हे उपभोग्य पदार्थ कहते है। वस्त्र, आभूपण, रुपया, चूल्हा, चक्की, कलम, कुर्सी आदि इस श्रेणी के पदार्थ है। ये दाल-रोटी के समान नही है कि दूसरी वार उपयोग ही न किया जा सके। इन्हे काम मे लिया जाता है और फिर रख दिया जाता है। फिर उनका प्रयोग किया जाता है। अतएव इन्हे उपभोग कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे पदार्थों की प्राप्ति मे विघ्न पडता है, वह उपभोगान्तराय कर्म कहलाता है।

सज्जनो! दुनिया मे काम मे आने वाले पदार्थ दो ही प्रकार के है—भोग और उपभोग। महापुरुषो ने समुद्र को कुलड़ी मे बन्द कर दिया है। इत्र की शीशी छोटी-सी होती है किन्तु उसमे बहुत-से फूलो का सत्व समाया हुआ होता है। इसी प्रकार महापुरुषो के वचन सूत्र रूप यानी छोटे होते है, मगर उनमे अगाध भावगाम्भीर्य होता है। महापुरुपो ने बहुत सारे बगीचो के फूलो का सार छोटी शीशी मे भर दिया है। किन्तु वह सार उत्तम रुचि वालो को ही पसन्द आता है, निम्न कोटि की रुचि वालो को पसन्द नही आता।

(५) वलवीर्यान्तराय—कोई अपनी शक्ति के अनुसार तप करना चाहता है, देश की सेवा करना चाहता है और सेवा के पुनीत क्षेत्र मे पदार्पण करना चाहता है, किन्तु स्वार्थी स्वार्थ के वशीभूत होकर उसमे विघ्न डालता है, अर्थात् उसे अपनी शक्ति का उपयोग नही करने देता। इस प्रकार जो दूसरो की शक्ति मे वाधक बनता है शक्ति प्राप्त नही करने देता या शक्ति का प्रयोग नही करने देता वह वलवीर्यान्तराय कर्म बन्ध करता है। जब इस कर्म का उदय

आता है तो वह बल-वीर्य प्राप्त करने की इच्छा रखने पर भी और उसके लिए प्रयत्न करके भी प्राप्त नही कर सकता।

सज्जनो! शास्त्रकारो ने तो कहने मे कोई कसर रक्खी नही, हम ही ढीठ हैं कि जो बने बनाये अमृत का भी पान नही कर सकते।

जो तपस्या करना चाहता है, सयम का पालन करना चाहता है, मिली हुई शक्तियो का सेवा या आत्मसाधना मे उपयोग करना चाहता है, वह यदि पराया हुआ तो उसे कहते है—साधुजीवन महान् है, उत्तम है, लघुकर्मा जीव साधु बन सकता है, महान् पुण्योदय से सयम जीवन प्राप्त होता है और इससे सात पीढियाँ तिरजातियाँ हैं और उज्ज्वल हो जाती है। किन्तु जब कोई आत्मीय जन दीक्षा लेने का सकल्प करता है तो उलटी गगा बहने लगती है। उस समय सारी पीढियाँ सामने आ जाती है और उसे रोकने के लिए हजार झूठी-सच्ची बाते बनाई जाती है।

एक बार एक व्यक्ति ने मेरे गुरु महाराज से कहा—आपकी कृपा से दो दुकाने चलती है और मेरा लडका थानेदार हो गया है।

महाराज मौन रहे। थोडी देर बाद उन्होने सहज भाव से कहा—सेठजी, अगर तुम्हारे घर से कोई साधु बने तो उसे अन्तराय न डालना, यह नियम ले सकते हो?

बूढे ने सोचा—मेरे घर मे से कौन साधु बन सकता है! कोई ऐसा नही दीखता। यह सोच कर उसने नियम ले लिया। गुरुजी से कहा—मेरा बेटा दीक्षा ले तो मैं अपने हाथ से दीक्षा दूँ।

सेठ के पोते की भौजाई के साथ अनबन हो गई थी। गुरु महाराज से मिला भी नही था। शायद सेठ को भी इस घटना का पूरा पता नही था। उसने वाहवाही लेने के लिए ही उक्त प्रतिज्ञा ले ली थी।

एक बाबाजी धूनी लगा कर और आँखे बन्द करके बैठ गए। कोई माई आकर चढावा चढाए या रुपया-पैसा रक्खे तो आप आँखे खोलकर देखते भी नही थे।

सयोग से एक लोभी सेठ भी बाबाजी के पास जा पहुँचा। उसने उन्हे ध्यान मे मग्न देख कर सोचा—ये बाबाजी, चढावा तो लेते ही नहीं है ! दूसरे दिन वह एक हजार की थैली लेकर पहुँचा और बाबाजी के सामने रख कर बोला—बाबाजी, मैने अठारह पापो का सेवन करके ये रुपये इकट्ठे किये है। कृपा करके मुझे इन पापो से उबारिये।

बहुत-से लोग वहाँ बैठे थे और वे सब उसे कजूस समझते थे, किन्तु आज यह मामला देख कर सोचने लगे—आज सारा यश तू ही लूट ले !

बाबाजी ने भी मन मे सोचा—इस कजूस के कलक को आज धो ही देना चाहिए।

बाबाजी ने थैली का पता लगा कर चेले को इशारा किया—देख ले अवसर।

चेला उठा और चुपचाप थैली उठा कर अन्दर ले गया। कजूस सेठ के दिल मे जैसे उबाल आने लगा। परन्तु सब के सामने वह कुछ बोल न सका। वही बैठ कर माला फेरने लगा। जब सब लोग चले गए तो बोला—वह . कहाँ रक्खी है ?

आखे बन्द किए हुए ही बाबाजी ने कहा—बच्चा, ले लिया। तेरी भावना पूरी हो गई।

सेठ –बाबाजी, मैने सुना था कि आप लेते नही है !

बाबाजी—तू सच कहता है और कहने वाले भी झूठ नही कहते। हमने भी सोचा—थोडा क्या लेना, हजार मिले तो जरूर लेना। भगवत्कृपा मे हमारी मुराद पूरी हो गई।

सेठ—अरे महाराज ! यह क्या कहते हो ? मैं मुफ्त मे ही मारा जाऊँगा और पुलिस आपको पकड लेगी। लोभी सेठ मुफ्त मे ही शोभा लूटनी चाहते थे तो उन सेठ जी ने भी सोचा—मेरे घर मे दीक्षा लेने वाला तो कोई है नही, फिर नियम लेने मे हानि ही क्या है ? दीक्षा लेने मे अन्तराय न डालूँगा, इस नियम को ले लेने से मेरी कोई हानि नही है।

किन्तु जब दूसरे ही दिन उस लडके ने दीक्षा ग्रहण करने का भाव प्रकट किया तो सेठ जी का कलेजा बैठ गया। उसने कहा—महाराज ने लड़के से पहले ही बात कर ली होगी, अन्यथा मुझे नियमबद्ध क्यो करते ?

बस, फिर क्या था ? उसने महाराज के पास आ कर कहा—तुमने मेरी गाठ काट ली ! धोखा देकर मेरा घर ही लूट लेने की कोशिश की। ऐ बिरदीचन्द साधु, मैं तो यो कर दूँगा, त्यो कर दूँगा।

लाला का रगढग ही बदल गया। कौन गुरु और कौन किस का चेला ! वह सारे गाव मे गुरुजी, का गीत गाता फिरा।

वही एक लाला दुन्नीमल चोधरी थे। उन्होने गुरु महाराज के पास आकर कहा—महाराज, मै आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अन्यत्र पधार जाइए। अभी यहाँ रहने का अवसर नही है। वह लाला आपके लिए ऐसे-ऐसे शब्द कहता है जिन्हे हम सुन नही सकते। वह मोह से अन्धा हो रहा है। हम कुछ कहते है तो कहता है—अपने घर मे से ही किसी को क्यो नही मुडवा देते।

गुरु महाराज ने शान्ति के खातिर वहाँ से विहार कर दिया।

तो यह मोह बडा प्रवल है। इसका प्रभाव वडा विचित्र और जबर्दस्त है। जिसने मोह को जीत लिया। उसने समग्र विश्व को जीत लिया मगर जो मोह मे अन्धा है, वह अपने आपसे भी पराजित हो जाता है। उसकी विचारशक्ति कुठित हो जाती है और वचन वोलने का विवेक भी विलुप्त हो जाता है। वास्तव मे वोलना भी एक वहुमूल्य कला है और वह सव को नही आती है।

एक राजा को स्वप्न आया कि एक दात को छोड कर मेरे सभी दात झड गए है। जव उसकी नीद खुली तो नित्य कृत्यो से निवृत्त हो कर उसने भोजन किया। तत्पश्चात् दरवार लगवाया और अपने सिहासन पर आकर वैठ गया।

दरवार मे पण्डित भी मौजूद था। राजा ने सव के सामने अपना स्वप्न प्रकट करके अपने पण्डित से फल पूछा। पण्डित ने ऊहापोह करके स्वप्न का फल सोचा और कहा—महाराज! आपके कुटुम्वी जन और परिचय मे आए हुए लोग सव मर जाएंगे और अकेले आप बचेगे।

फलादेश सुन कर राजा को बडा क्रोध आया । उसने पण्डित से कहा—पण्डित, तुमने तो सारा मामला ही चौपट कर दिया। परिवार के लोग जब मरेंगे तब मरेंगे, तुमने अभी मार डाला । तुम राजसभा मे रहने योग्य नही हो । अभी बाहर निकल जाओ ।

राजा ने उसी समय पण्डित को राजसभा से निकलवा दिया। वह बाहर चला गया ।

तत्पश्चात् राजा ने अपने मन्त्री से उसी स्वप्न का फल पूछने का विचार किया । कहा—मत्रिन्, तुम बताओ, मेरे स्वप्न का फल क्या होगा ?

मन्त्री बहुत कुशल नीतिज्ञ था । उसने कहा—राजन्, आपके जितने भी मित्र, कुटुम्ब-परिवार आदि इष्ट जन है, उन सब से आप अधिक दीर्घजीवी होगे । आप लम्बे समय तक जीवित रह कर यशस्वी होगे ।

मन्त्री के द्वारा कथित फलादेश सुन कर राजा की मानो गई हुई लक्ष्मी वापिस आ गई ।

सज्जनो ! बात क्या बनी ? दोनो के कहे फलादेश पर विचार कीजिए तो क्या अन्तर है ? बात तो वही की वही हुई । पण्डित ने कहा था कि आप से पहले सब मर जाएँगे और मन्त्री ने कहा कि आप सब से अधिक दीर्घजीवी होगे । शब्दों मे अन्तर अवश्य है, परन्तु आशय तो दोनो का एक ही है । फिर भी पण्डित के कथन से राजा को विषाद हुआ और मन्त्री के कथन से हर्ष हुआ । इसका कारण क्या है ? बस, वही बोलने की कला । पण्डित को वह कला नही आती थी और चतुर मन्त्री बोलने की कला मे कुशल था ।

पण्डित दरवार के वाहर वैठा मन्त्री का कथन सुन रहा था। वही का वही उत्तर सुन कर उसे सान्त्वना मिली और उसे पुन दरवार मे जाने का साहस हुआ। भीतर आकर उसने राजा से कहा—अन्नदाता मैने क्या झूठ कहा था और मन्त्रीजी ने क्या अनूठा सत्य कह दिया कि आप मुझ पर तो अप्रसन्न और इन पर प्रसन्न हो गये ? दोनो के उत्तर का अर्थ तो एक ही है।

राजा ने कहा—देखो पण्डित! नीतिकार कहते है—

सत्य ब्रूयात् प्रिय ब्रूयात्, न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य वोलो और प्रिय वोलो, किन्तु ऐसा सत्य मत वोलो जो अप्रिय हो।

राजा ने कहा—तुम्हारा कथन सत्य भले हो, मगर अप्रिय है और जो अप्रिय है, दूसरो को कष्टकारी है, जिसको सुनने से किसी के हृदय को ठेस लगती है, व्यथा उत्पन्न होती है, वह शास्त्रीय दृष्टि से सत्य की कोटि मे नही आ सकता।

शास्त्रो मे सत्य का वडा विशद वर्णन किया गया है। जो उसके स्वरूप को समीचीन रूप से समझ लेते है, वही पूरी तरह सत्य का आचरण कर सकते है। वास्तव मे सत्य, अहिसा का परिपालन करने के लिए है। अतएव जो सत्य अहिसा का विरोधी होता है, हिसा का पोषक होता है, वह सत्य नही, असत्य है। अतएव सत्यवादी की नज़रो मे सदैव अहिसा का आदर्श रहना चाहिए। इसी कारण अप्रिय सत्य वोलने का निषेध किया गया है।

वजीर ने सत्य भी कहा और प्रिय भी कहा तो वह प्रशसा का पात्र हुआ। उसने जीने की वात कही, मरने की नही कही। किन्तु पण्डित ने अप्रिय सत्य कहा तो उसे तिरस्कार का पात्र वनना पड़ा।

सज्जनो ! किसी महिला को 'माता' कह कर संबोधन कीजिए तो उसे कितना अच्छा लगता है। और उसी को 'मेरे बाप की लुगाई' कह दीजिए तो वह सैकडो गालियाँ सुनाये बिना न रहेगी। तो बोलने-बोलने मे कितना अन्तर होता है ?

तो सर्वत्र विवेक की आवश्यकता है। विवेक के बिना मनुष्य पद-पद पर विषाद और विपदा का पात्र बनता है। ठीक ही कहा गया है—

विवेकभ्रष्टाना भवति विनिपात शतमुख ।

अर्थात्—जो मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है, उसका शतमुख अध पतन होता है। वह नीचे ही नीचे गिरता चला जाता है।

किन्तु मोह और विवेक परस्पर विरोधी है। मोह विवेक को नष्ट कर देता है। अतएव विवेक का विकास करने के लिए मोह को जीतना आवश्यक है। मोह को जीत लेने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को जीतने मे विलम्ब नही लगता।

तो पाँचवाँ अन्तराय कर्म का भेद बलवीर्यान्तराय है। किसी को धर्मकार्य आदि मे लगते देख विघ्न डालने से भी अन्तराय कर्म बंधता है। मगर मोह को जीत लेने पर इसे भी सहज ही जीता जा सकता है।

इस प्रकार जो राग, द्वेष और मिथ्यात्व को जीत लेते है वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
२४—१०—५६

चलो—भले हौले-हौले

उपस्थित महानुभावो !

कल बतलाया गया था कि जो आत्माएँ विवेकशील, ज्ञानवान् और गुणवान् होती है, वे आत्मगत त्रिदोषो को निकाल फेकती है, उन्हे समूल नष्ट कर देती है। तदनन्तर वह ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की आराधना करने योग्य हो जाती है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना से क्रमश कर्मो का विनाश होता चला जाता है।

शास्त्र मे कर्म-विनाश का जो क्रम दिखलाया गया है, उसके अनुसार सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियो का क्षय होता है। तत्पश्चात् ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियो का, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियो का और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का एक साथ ही क्षय होता है। आठ कर्मो मे यह चार घातिया कर्म कहलाते है। शेष चार अर्थात् नाम कर्म, गोत्र कर्म, वेदनीय और आयु कर्म अघातिया कर्म है।

घातिया कर्म ही आत्मा के घोर शत्रु है। जब इन पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तो अघातिया कर्मो का जोर नही चलता। वे अनायास ही नष्ट हो जाते है। यह कर्म जीव को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् और वीतराग होने मे बाधा नही पहुँचाते। किन्तु घातिक कर्म इतने प्रबल और सघन होते है कि उनकी विद्यमानता मे न तो केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, न अनन्त बलवीर्य प्राप्त हो सकता है और न वीतरागता ही आ सकती है। जब इनका

क्षय होता है तभी आत्मा मे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट होते है और सर्वज्ञता तथा सर्वदर्शिता प्राप्त हो जाती है। उस समय आत्मा आत्मभाव मे रमण करने लगती है। उसमे अनन्त आनन्दमय स्रोत प्रवाहित होने लगता है। जीवन्मुक्तदशा उपलब्ध हो जाती है, जिसे अमर मोक्ष भी कहते है।

आत्मा की जिस-जिस शक्ति का विरोध करने वाले कर्म का क्षय होता चला जाता है, वही-वही शक्ति उस कर्म का क्षय होने पर प्राप्त होती जाती है।

शास्त्र मे प्रश्न किया गया है कि चार घातिया कर्मों को नष्ट कर देने का क्या फल होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है कि अनुत्तर वस्तु की प्राप्ति होती है। अर्थात् जब चार घातिया कर्मों का क्षय होता है तो जीव को ऐसी अलौकिक और असाधारण निधि प्राप्त होती है जिससे बढ कर समग्र विश्व मे दूसरी कोई निधि हो नही सकती।

आत्मा को अनुत्तर ज्ञान की प्राप्ति होती है, अर्थात् उस ज्ञान से बढ कर दूसरा कोई ज्ञान है ही नही। दुनिया के समस्त ज्ञान-विज्ञान उस अनुत्तर ज्ञान मे गर्भित हो जाते है। वह परिपूर्ण ज्ञान है और ससार मे कोई वस्तु ऐसी नही जो उसमे न झलकती हो। तीन काल और तीन लोक के समस्त भाव उस अनुत्तर ज्ञान मे उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते है जैसे काँच सामने होने पर देखने वाले का चेहरा उसमे प्रतिबिम्बित होता है। चेतना शक्ति का एक अश प्रकट होने से शेष नही रहता। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओ के साथ उदित होता है उसी प्रकार वह ज्ञान-चन्द्र भी पूर्ण कलाओ से प्रकाशित होता है।

तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने पर आत्मा को जब सम्पूर्ण ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होती है तो वह आत्मा देवाधिदेव बन जाता है। उसे जिनेन्द्र भी कहते है, वीतराग भी कहते है, परमपुरुष भी कह सकते है और अर्हन्त भी कहते है।

बतलाया जा चुका है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने पर ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है, अतएव सर्वज्ञ मे न किसी के प्रति राग होता है, न द्वेष होता है और न काम क्रोध आदि विकार ही होते है।

जैनसिद्धान्त ऐसे अवतारो को ईश्वर नही मानता जिनकी लुगाई खो जाय तो वह उसके वियोग मे छटपटाता हुआ जगलो मे भटकता फिरे और वृक्षो एव लताओ से उसका पता पूछता फिरे। जो विलाप करता फिरे और मूढ हो जाय। एक तरफ तो हम उन्हे भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सोलह कलाओ से परिपूर्ण पूर्णपुरुष माने और दूसरी तरफ अपनी पत्नी का पता पूछने के लिए दूसरो की आजजी करना भी मानते रहे, ये दोनो बाते एक साथ किस प्रकार बन सकती है ? क्या उस समय उनकी सर्वज्ञता को भी कोई उनकी पत्नी के साथ अपहरण कर लेता है ? या उनका सर्वज्ञत्व बैक मे जमा हो जाता है ?

उसी वस्तु का अपहरण किया जा सकता है जो यथार्थ मे आपकी नही है, पर आपने अपने ममत्व के कारण आपने अपनी मान ली है। जो वस्तु वास्तव मे आपकी है, वह त्रिकाल मे भी अपहृत नही की जा सकती। सर्वज्ञता आत्मा का निज गुण है और उसे अपहरण करने की शक्ति किसी मे नही है।

तो शास्त्रकार कहते है कि देव-परमात्मा बनना इतना सहज नही है। वे किसी के बनाये नही बनते। याद रखिए, जैसी तुम्हारी नमाज होगी वैसा ही नूर आएगा। जैसी तुम्हारी धारना और भावना होगी, वैसे ही भगवान् तुम्हे मिल जाएँगे।

भगवान् बनाने से नही बनते और न मोल से मिलते है। जो भी भगवान् बने है, सब अपने ही बलबूते पर और अपनी ही साधना के बल पर बने है। किसी दूसरे के बनाने से नही बने हैं। मगर मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह चाहता है—खर्च तो कम हो और लाभ ज्यादा हो। किन्तु दुनिया मे यह कहावत भी प्रसिद्ध है—'महँगा रोवे एक बार सस्ता रोवे बार-बार' भगवान् को खरीदा और टूट गया—फूट गया, तो रोना पड़ा। ऐसा भगवान् भगवान् नही है। वह न टूटता-फूटता है और न उस पर किसी का असर होता है।

तो शास्त्रकार कहते हैं—मोहनीय के पश्चात् ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। 'केवलज्ञान' शब्द मे 'केवल' विशेषण है और 'ज्ञान' विशेष्य है। 'केवल' शब्द के अनेक अर्थ है। जो असहाय हो अर्थात् जिसे इन्द्रिय मन आदि की सहायता की आवश्यकता न हो वह 'केवल' कहलाता है। दूसरा अर्थ 'अकेला' है। जब ज्ञानावरण के क्षय से यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो क्षयोपशमजन्य मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय ज्ञान नही रहता। अकेला यही ज्ञान रहता है अतएव अकेला रहने से भी इसे 'केवलज्ञान' कहते है। 'केवल' का अर्थ प्रतिपूर्ण भी है। यह ज्ञान की चरम सीमा रूप होने से प्रतिपूर्ण है, इसमे तनिक भी अधूरापन नही होता। 'केवल' शब्द का चौथा अर्थ 'अनन्त' भी होता है। अनन्त

द्रव्यपर्यायो को जानने वाला होने के कारण यह ज्ञान भी अनन्त है और इस कारण भी केवलज्ञान कहलाता है। 'केवल' का एक अर्थ 'अन्त' भी होता है। जितने भी ज्ञान जीव को प्राप्त होने योग्य है, उन सब के अन्त मे इस ज्ञान की प्राप्ति होती है, अतएव इसे केवलज्ञान कहते है।

आत्मा शरद् ऋतु के निरभ्र आकाश मे पूर्णिमा का उदित होने वाले चन्द्रमा के समान है। चन्द्रमा के ऊपर आवरण आने से प्रकाश मे तरतमता होती है, और इसी प्रकार ज्ञान के ऊपर आवरण आने से ज्ञान मे तरतमता होती है। उस तरतमता को सूचित करने के लिए ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि अनेक भेद-प्रभेद किये गये हे। किन्तु जव आवरण का सर्वथा अभाव हो जाता है तो समस्त अपूर्ण अवस्थाएं मिट जाती है और एक परिपूर्ण रूप ही प्रकट होता है। वही केवलज्ञान कहलाता है। यही कारण है कि केवलज्ञान के साथ अपूर्ण ज्ञान, जो क्षयोपशम जनित होते है, नही रह सकते।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आवरण होने पर भी होते है। यही बात अवधि और मन पर्याय ज्ञान के विषय मे भी समझनी चाहिए। इस कारण ये चारो ज्ञान अपूर्ण है, मगर केवलज्ञान तभी उत्पन्न होता है जब आवरण का पूर्ण रूप मे क्षय हो जाता है। अतएव इस ज्ञान मे पूर्णता होती है।

यद्यपि केवलज्ञान अकेला ही रहता है, मगर उसके रहते क्या मजाल कि अज्ञान की एक छोटी-सी भी रेखा रह सके। हजारों तारे मिल कर भी जो प्रकाश नही कर सकते, वह सूर्य अकेला करता है। इसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि और मन पर्याय—चारो ज्ञान एक

ही आत्मा में रह कर भी जो प्रकाश नही कर पाते, वह अकेला केवलज्ञान कर देता है। केवलज्ञान आत्मजगत् का सूर्य है। उस पर किसी प्रकार का पर्दा नही, अतएव वह निरावरण है।

तो जो अवतार मोहग्रस्त है, मोह से प्रेरित होकर युद्ध करते फिरते है समझ लीजिए कि उन्हे केवलज्ञान नही है। जैनशास्त्र उन्हे आराध्य देव अर्थात् परत्मात्मदृष्टि से नही देखता। यो तो देव पॉच प्रकार के माने गये है—भवि द्रव्यदेव, भावदेव, नरदेव, धर्मदेव और देवाधिदेव।

'देव' शब्द 'दिव्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है क्रीडा करना, विजय प्राप्त करना और इच्छा करना, प्रकाश करना, गति करना आदि। इन विभिन्न अर्थो के आधार पर अनेक प्रकार से देव शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। इसी कारण पॉच प्रकार के देव बतलाये गये हे और इनके अतिरिक्त अन्य को भी अपेक्षाविशेष से देव कहा जा सकता है। तो पॉच प्रकार के देवो का जो कथन किया गया है, उनका अर्थ इस प्रकार है—

(१) भविद्रव्यदेव—जिस मनुष्य या तिर्यंच ने देवगति का बंध कर लिया है, परन्तु अभी देवगति प्राप्त नही की है, वह भविद्रव्यदेव हे।

(२) भावदेव—जो देवजन्म को प्राप्त कर देवायु को भोग रहा है।

(३) नरदेव—अर्थात् चक्रवर्त्ती आदि राजा।

यह तीनो लौकिक दृष्टि से देव है, कामी और भोगी है। आगे के दो आध्यात्मिक देव है—

(४) धर्मदेव—साधु, मुनि, ऋषि ।

दूधदेव, पूतदेव, जनदेव, धनदेव, कणदेव आदि धर्मदेव नही है। धर्मदेव के पास कोई भी आवे, चाहे वह धनी हो या निर्धन, वे सब को समान भाव से धर्मोपदेश देते है। चक्रवर्ती हो या रक हो, उनको एक-सा उपदेश देना धर्मदेव का कर्तव्य है। शास्त्र मे कहा है—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।

ऐ धर्मकथावाचक ! तेरे हृदय मे इतनी विशालता होनी चाहिए कि जैसे तू चक्रवर्ती राजा को उपदेश करता है उसी प्रकार गरीव-निर्धन रक को भी उपदेश कर।

किन्तु सज्जनो ! यह घाटी बडी विषम है। वडे-वडे भी यहाँ आकर चकरा जाते है। कोई वडे सेठ जी आ गए तो कहा जाता है कब आए सेठ जी ? और उनको आगवानी मे थोडी देर के लिए व्याख्यान ही वन्द हो जाता है। मगर साधु को समदृष्टि होना चाहिए। गरीव और अमीर दोनो समान रूप से प्रिय होने चाहिएँ। गरीव क्या नही देगा और अमीर क्या दे देगा ? यहाँ तो धर्म की दुकान है। सवको माल खरीदने की समान स्वतन्त्रता है। चाहे अमीर माल खरीदे चाहे गरीव, हमे तो दलाली मिल ही जायगी। एक गरीब को दीक्षित करने मे वही दलाली मिलती है जो एक चक्रवर्ती को दीक्षित करने से मिलती है।

किन्तु साधु होकर भी जो धनवान् को अधिक महत्त्व देता और गरीव को कम, जो धनी से घुल-घुल कर वाते करता है और की उपेक्षा करता है समझना चाहिए कि अभी तक उसके

चित्र मे धन का महत्त्व बना है और उसके जीवन मे समभाव नही जाग सका है।

तो धर्म के विशाल प्रागण मे इतनी उदारता है कि वहाँ गरीब-अमीर का कोई भेद नही। धर्म की कसौटी और तराजू दूसरी ही है। वहाँ धन और ऐश्वर्य से मनुष्यता नही तौली नापी जाती। दुनियावी सफलता से वहाँ महत्ता नही मिलती। धर्म की कसौटी आत्मिक गुणो का विकास है। जिसने आत्मिक गुणो का अधिक विकास किया है, वही महान् है, फिर भले ही वह रक ही क्यो न हो। इसके विपरीत जिसने आत्मिक गुण प्राप्त नही किये, वह तुच्छ है, चाहे वह बडा सेठ या चक्रवर्त्ती ही क्यो न हो। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र मे सारे मापदण्ड ही बदल जाते है।

साधु का जीवन अलग-थलग है। उसे गृहस्थो के मामले मे नही पडना चाहिए। गार्हस्थिक विषयो से सर्वथा अलिप्त रहना चाहिए। गृहस्थो के साथ उसका जो सम्बन्ध है, वह धर्म का ही सम्बन्ध है। अतएव जो भी जिज्ञासु होकर आवे, उसे धर्म का उपदेश दे दे; किसी प्रकार की शका हो तो समाधान कर दे। इसके अतिरिक्त इधर-उधर के प्रपच मे नही फँसना चाहिए। जीवन का एक-एक क्षण अनमोल है और सयममय जीवन के क्षणो का तो कहना ही क्या है। यह पावन अवसर दुनियादारी की निरर्थक चकल्लस मे गँवाने के लिए नही है।

सज्जनो ! ससार की बहुमूल्य मे बहुमूल्य वस्तु भी किसी न किसी मूल्य पर मिल सकती है, परन्तु व्यतीत हुआ समय किसी भी कीमत पर मिलने वाला नही है। अतएव 'कर लिया सो काम और

भज लिया सो राम।' इस अमूल्य जीवन के महत्त्व को समझना चाहिए और उसका सदुपयोग करना चाहिए।

(५) देवाधिदेव—पाँचवे देव है। वे सब देवों के देव है जिन्होने इस मानवशरीर मे ही ईश्वरत्व को प्रकट कर लिया है, जो जीवन्मुक्त हो चुके है अर्थात् जिनकी आत्मा से काम, क्रोध मद, मोह, लोभ, राग, द्वेष आदि विकार नष्ट हो गये है। वह देवाधिदेव देवो के भी देव है।

इस प्रकार कोई राजा-महाराजा नरदेव तो कहला सकता है, मगर उसे त्यागी देव या परमात्मा नही कहा जा सकता। मगर आज तो जैसे भोगी-सयोगी चेले है, वैसे ही उनके भोगी-सयोगी देव है।

सच्चा देव वही है जो अठारह दोषों से रहित है। निरावरण है। जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी वीतराग और कृतकृत्य है। वे अर्हन्त और सिद्ध के भेद से दो प्रकार के है। अर्हन्त भगवान् सशरीर और सिद्ध भगवान् अशरीर होते है।

दोनो ही प्रकार के देवाधिदेव परम विशुद्ध दशा प्राप्त कर चुके है। उन्होने सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर दिया है। उनके निकट अन्धकार का कुछ काम ही नही है। वे लोकालोक के समस्त भावो को जानने और देखने वाले है।

इसी प्रकार की अवस्था प्राप्त करके भी जो सयोगी होते है अर्थात् जिनके मन वचन काय रूप योग विद्यमान है, वे अर्हन्त देव कहलाते हैं। किन्तु योगो के होते हुए भी वे अशुभ प्रवृत्तियो से सर्वथा रहित हो गये है। मन, वचन काय के योग वैसे तो बहुत

उपयोगी होते है, बशर्ते कि उन्हे ठीक ढग से काम मे लिया जाय। अगर इन्हे खुला छोड दिया जाय तो इनके समान आत्मा का कोई शत्रु भी नही है। और यदि इन पर पूर्ण नियन्त्रण रक्खा जाय तो आत्मोत्थान मे अत्यन्त उपयोगी भी यही होते है।

सज्जनो ! लुकमान नामक एक बड़े हकीम हो चुके है। वह राजा के हकीम थे, खास तौर से राजा का इलाज किया करते थे। जहाँ वे जडी-बूटियो को पहचानने मे कुशल थे, वहाँ रोग का कारण पहचानने मे भी असाधारण थे। किसी के असातावेदनीय कर्म का बहुत तीव्र उदय हो तो बात दूसरी, अन्यथा वह अपनी दवा से फौरन ही मरीज को राहत पहुँचा देते थे।

राजा जितना उनकी हिकमत से खुश था, उससे बढ कर उनके जीवनव्यवहार से खुश था। वह समय-समय पर हकीम साहब से वार्त्तालाप करता और अपने प्रश्नो के सुन्दर उत्तर पाकर अत्यन्त प्रसन्न तथा सन्तुष्ट होता था। वह प्रश्नो का उत्तर देने मे बहुत निष्णात थे। उनकी बाते सुन कर राजा और दरबारी लोग बडे प्रसन्न होते थे और उनकी नसीहतो को अपनी जिन्दगी मे उतारने की कोशिश करते थे।

इस प्रकार आमोद-प्रमोद के साथ सब का समय व्यतीत हो रहा था।

एक दिन राजा और लुकमान प्रसन्न भाव मे बैठे थे। राजा के दिल मे आया कि कोई प्रश्न छोड़ा जाय और उस पर चर्चा आरम्भ की जाय। यह सोच कर राजा ने कहा—

हकीम साहव ! आप शरीरविज्ञान के वेत्ता है, शरीर के अग-प्रत्यग के विपय मे अच्छी तरह जानते है, उनमे होने वाले रोगो को और उनके प्रतीकार को भी भलीभाँति जानते है। मगर यह तो वतलाइए कि इस शरीर मे सर्वोत्तम वस्तु क्या है ?

लुकमान ने उत्तर दिया—यो तो अपने-अपने स्थान पर सभी चीजे उत्तम है, आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि सभी की उपयोगिता है, फिर भी सव से अधिक उत्तम दो चीजे कही जा सकती है—अन्त करण और जवान। इन दोनो से उत्तम इस शरीर मे कोई अच्छी वस्तु नही जान पडती।

तव राजा ने दूसरा प्रश्न किया—अच्छा अव यह भी वतलाइए कि शरीर मे निकृष्ट—निकम्मी चीजे क्या है ?

हकीम साहव—जहापनाह ! यही दोनो चीजे सव से निकृष्ट भी है।

राजा—आपने तो खिचडी-खाटा इकट्ठा कर दिया। जो चीजे सर्वोत्कृष्ट है, वही निकृष्ट कैसे हो सकती है ? साफ-साफ समझाइए।

लुकमान बोले—हजूर, समय-समय की वात है।

राजा—यह कैसे हो सकता है। जो वस्तु सव से अच्छी है, वही सव से बुरी कैसे हो सकती है ?

लुकमान—जहापनाह ! मेरी दोनो वातो मे कोई विरोध नही है। अपने आपमे कोई वस्तु वुरी-भली नही होती। वस्तु की अच्छाई और वुराई उसके उपयोग मे निहित है। जव किसी वस्तु

का सदुपयोग किया जाता है तो वह अच्छी होती है और जब उसका दुरुपयोग किया जाता है तो वही बुरी हो जाती है। और जो बात वस्तु के विषय में है, वह शक्ति के विषय मे भी समझना चाहिये।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए लुकमान बोले—जिस मन मे दुनिया की भलाई की बात होती है, जो सब का भला चाहता है, सब का शुभचिन्तक है, और जो प्रातःकाल उठते ही यह भावना करता है कि—

सुखी रहे सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे।

अर्थात्—इस संसार मे कही कोई भी प्राणी दुःखी दृष्टिगोचर न हो, सब सुखी रहे। मेरी आत्मा तभी सुखी और प्रसन्न होगी जब मैं संसार के समस्त प्राणियो को सुखी और प्रसन्न देखूँगा।

दयावान् पुरुष दूसरे को दुःखी देख कर स्वयं दुःखी हो जाता है। अतएव जिस अन्तःकरण मे विश्व के कल्याण की भावना समाई रहती है, वह अन्तःकरण सर्वोत्तम है।

इसी प्रकार जिसकी जबान मे सचाई है, उसकी जबान सर्वोत्तम है।

जो भी तप जप, संयम और महाव्रत आदि है, सब इन दोनो गुणो मे गर्भित हो जाते है, क्योकि अहिंसा और सत्य ही सब गुणो के बीज है। इनके होने पर अन्यान्य सद्गुणो के अंकुर स्वतः फूट निकलते है। इनके अभाव मे कोई सद्गुण प्रथम तो उत्पन्न ही नहीं होता और कदाचित् उत्पन्न हो जाय तो टिक नहीं सकता।

तो लुकमान ने कहा—राजन्, जिस दिल मे दुनिया की भलाई और जिस जबान मे सचाई रहती है, वह दिल और वह जबान ही इस सारे शरीर मे उत्तम है।

बादशाह ने कहा—ठीक है, यह तो समझा। मगर यही दोनो चीजे निकृष्ट कैसे है ?

लुकमान बोले—जिस अन्त करण मे हमेशा खोटी ही खोटी भावनाएँ उत्पन्न होती रहती है, अमुक का ऐसा हो जाय और फला का वैसा हो जाय—इस प्रकार जो दूसरो का बुरा ही सोचता रहता है, जिसकी भावना दूसरो को हानि पहुँचाने की ही बनी रहती है, अन्त करण काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, तृष्णा आदि विकारो का अड्डा बना हुआ है, जिसमे मलीन और तामसिक वृत्तियाँ ही उत्पन्न होती रहती है, वह अन्त करण निकृष्ट है।

इसी प्रकार जिस जीभ पर सदैव असत्य की क्रीडा होती रहती है, वह जीभ शरीर मे सब से अधिक निकृष्ट अवयव है। क्योकि झूठ सब पापो का मूल है।

कहा भी है—

साच बराबर तप नही, झूठ बराबर पाप।

सत्य का आचरण सर्वोत्तम तप है। जो सत्यनिष्ठ होगा, उसमे अहिसा भी उत्पन्न हुए बिना नही रहेगी। वह यथाशक्ति दान भी देगा, ब्रह्मचर्य का भी पालन करेगा और उसमे निर्लोभता भी होगी। सत्य सर्वोत्तम धर्म है, इसीलिए झूठ सब से बडा पाप है। खाने के बाद जो झूठन बच जाती है, उसे कुत्ते या कौवे खाते है। शास्त्रो का कथन है कि झूठ बडी निकम्मी और रद्दी वस्तु है। साधु पुरुषो ने जिसको त्याग दिया है, वमन कर दिया है, उसको कोई देखना भी पसन्द नही कर सकता। इस प्रकार श्रेष्ठ आत्माओ ने जिसको वमन कर दिया है, उसका सेवन करने वाली आत्मा श्रेष्ठ

नही कहला सकती। अतएव जवान से कभी असत्य का प्रयोग नही करना चाहिए।

तो लुकमान ने भी कहा है कि जिस अन्त करण मे मलीन और कुत्सित भावनाएँ वनी रहती है और जो जीभ असत्य एव अप्रशास्त्र वचनो का उच्चारण करती है वह निकृष्ट है।

राजा ने लुकमान का स्पष्टीकरण सुना तो कहा—हकीमजी, आपने ठीक कहा है।

सज्जनो! तो इस मन और जीभ के समान कोई उत्कृष्ट भी नही है और निकृष्ट भी नही है। ये दोनो सब से उत्तम भी है और अधम भी हैं। वास्तव मे इनकी उत्तमता इनके सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है।

वे बरतन थोडे है जिनमे इत्र और गुलाव जल भरे जाते है, किन्तु रद्दी पात्र वहुत है जिनमे निकृष्ट चीजे भरी जाती है। इसी ससार मे धर्मनिष्ठ जीव थोडे है और पापी वहुत है।

जिसके मन मे विकार भरे हुए हैं, सत्य का प्रयोग नही करेंगे। कामनाशील पुरुप अपनी कामनाओ की पूर्त्ति के लिए छल-कपट का आश्रय लेता है। जब उसकी कामनाओ और वासनाओ की सीधी तरह पूर्त्ति नही होती तो उसे झूठ का भी आश्रय लेना पडता है। आखिर कामी पुरुप की दुर्दशा होती ही है। वह पण्डित, कवि, शास्त्री या ज्योतिषाचार्य हो क्यो न हो, जब वह वासनाओ का शिकार होता है, तो उसे झूठ का आश्रय लेना ही पड़ता है। मगर याद रखना चाहिए कि जो कामवासना की पूर्त्ति के लिए दुख देता है किसी को, वह स्वय सुखी नही हो सकता।

किसी राजा के दरबार एक ज्योतिषी पण्डित आया। वह बडा होशियार था। राजा ने अपनी कन्या को बुलवा कर ज्योतिषी से पूछा—यह बताओ कि इस कन्या का भविष्य क्या है?

राजकुमारी अत्यन्त सुन्दरी, हृष्टपुष्ट और गुणवती थी। ज्यो ही उस ज्योतिषी ने राजकुमारी के मुखमण्डल पर दृष्टि डाली तो वह कामातुर हो गया। उसके चित्त मे विकार का प्रादुर्भाव हो गया। अतएव उसने सीधा उत्तर न देकर उलटा ही चक्कर घुमा दिया।

सज्जनो! मनुष्य को ससार मे यह चक्कर ही घुमा रहे है। मोहनीय कर्म के वशीभूत हो कर मनुष्य किस-किस बिडम्बना का पात्र नही बनता?

हाँ, तो उस ज्योतिषी ने मीन, मेष, मकर, कुभ की गणना करके सिर हिला दिया। राजा ने यह देखा और सोचा कि यहाँ दाल मे कुछ काला है।

प्रकट रूप मे राजा ने पूछा—ज्योतिषी जी आपने सिर क्यो हिलाया?

ज्योतिषी ने बनावटी गम्भीर रूप धारण करके कहा—अन्नदाता, अपराध क्षमा हो। यह ससार अत्यन्त दारुण और विषम है। यहाँ कोई पुत्री बन कर और कोई पुत्र बन कर बदला लेने आते है। इन राजकुमारो के ग्रह अच्छे प्रतीत नही होते। जब यह अठारह वर्ष की होगी तो पितृ-वश नष्ट हो जायगा। बीसवे वर्ष मे इनके श्वसुर कुल का भी विनाश हो जायगा, ऐसा प्रतीत होता है। ज्योतिष मे ऐसी कन्या को विषकन्या कहते है।

ज्योतिषी ने जब यह चक्कर चला दिया तो राजा सोच-विचार मे पड गया। अधिकाँश राजा भोदू और कानो के कच्चे होते है। उसे ज्योतिषी के वचन पर विश्वास हो गया। उसने कहा—पण्डित जी अगर इसके जीवित रहने से दोनो वश नष्ट हो जाएँगे तो महान् अनर्थ होगा। क्या इसका कोई प्रतीकार नही है आपके शास्त्र मे ?

कामान्ध ज्योतिषी ने कहा—इस कन्या को किसी पेटी मे बन्द करके नदी मे बहा दे तो यह जीवित नही रहेगी और आप दो-दो वशो के समूल विनाश के घोर पाप से बच जाएँगे। ऐसा करने से आपको अपने हाथ से मारने का पाप भी नही लगेगा और एक बड़ा अनर्थ भी टल जायगा।

ज्योतिषी यह परामर्श दे ही रहा था कि सयोगवशात् वजीर वहाँ पहुँच गया। वह बडा बुद्धिमान्, विचक्षण, अनुभवी और मनोवैज्ञानिक था। उसने ज्योतिषी के मन की बात ताड ली। मगर उसके परिपक्व अनुभव ने कहा—जरा धीरज से काम लेना चाहिए। उतावली करने से लाभ के बदले नुकसान हो सकता है। इस समय राजा उत्तेजना की अवस्था मे है और कदाचित् हठ पर चढ गया तो सारी बाजी उलटी हो जाएगी।

इस प्रकार सोच कर वह चुप रहा और अपनी योजना मन ही मन सोचने लगा।

तब राजा ने मन्त्री से कहा—इस विषकन्या को रात्रि मे नदी मे बहा देना ही श्रेयस्कर है। इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं। परन्तु यह काम किसी विश्वासपात्र नौकर को सौंपना होगा।

वजीर ने कहा—अन्नदाता, नौकर तो नौकर ही है। उसे विश्वासपात्र से अविश्वासपात्र बनते क्या विलम्ब लगता है। यह अत्यन्त गोपनीय कार्य है। इसके लिए किसी नौकर का भरोसा करने मे खतरा है। अतएव इस कार्य का उत्तरदायित्व स्वय मुझे लेना पडेगा।

राजा ने प्रसन्नता के साथ वज़ीर का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और कहा—बहुत ठीक, बहुत ठीक। यह काम तुमको ही होशियारी से करना होगा।

वज़ीर ने कहा—आप निश्चिन्त रहे महाराज, मै इस काम को इस प्रकार पूरा करूँगा कि सारा पाप धुल जाय।

रात्रि हुई। वजीर ने राजकुमारी को बुला कर और भली-भाँति समझा-बुझा कर रानी के महल मे भेज दिया और कहला दिया कि राजकुमारी के वहाँ होने का पता महाराज को नही लगना चाहिए।

इधर वजीर ने पेटी मँगवा कर और उसमे एक रीछ को बद करवा कर ताला जड दिया। फिर नौकरो को आदेश दिया—ले जाओ इस पेटी को और नदी मे वहा आओ। यह रहस्य किसी पर प्रकट नही होना चाहिए।

नौकरो ने पेटी ले जाकर नदी मे डाल दी। वे आगे क्या होता है, यह देखने के लिए नदी के किनारे एक झाडी मे छिप कर खडे हो गये।

उधर वह कामान्ध ब्राह्मण ज्योतिषी इसी ताक मे था। वह नदी के घाट से कुछ नीचे की ओर छिपा बैठा था और प्रतीक्षा कर

रहा था कि पेटी कब नजर आवे और मै उसे किनारे पर लाकर राजकुमारी को प्राप्त करूँ और अपनी कामवासना की पूर्त्ति करूँ। इतने मे ही पेटी बहती हुई पहुँची। ज्योतिषी अपनी सहायता के लिए अपने कुछ विश्वस्त साथियो को भी ले गया था। पेटी देखते ही वह नदी मे उतरा और साथियो की सहायता से उसे किनारे पर ले आया।

तत्पश्चात् उसने अपने साथियो को विदा कर दिया। साथी चले गये और ब्राह्मण वहाँ अकेला रह गया। तब उसने पेटी का ताला तोडा। उसने पेटी का ऊपरी भाग हटाया ही था कि उसमे से एक मदोन्मत्त और भूखा रीछ निकला। रीछ ने निकलते ही ब्राह्मण का गला दबोच लिया और ब्राह्मण के प्राणपखेरू उड गये। ब्राह्मण बहुत चिल्लाया, पर डर के मारे कोई उसकी सहायता करने के लिए नही आया।

वजीर के आदमी इस घटना को देख रहे थे। उन्होने पूरी घटना देखी और लौट कर वजीर को पूरा किस्सा सुनाया।

दूसरे दिन वजीर ने राजा के रुख को अनुकूल बना कर कहा—महाराज, बडा जुल्म हो गया। ज्योतिषी की बाते सब झूठ थी। राजकुमारी बडी भाग्यशालिनी थी। उस ब्राह्मण के बहकावे मे आकर आपने भारी अनर्थ कर डाला।

इस प्रकार कह कर तथा दूसरे कई ज्योतिषियो की सम्मतियाँ बता कर वजीर ने राजा को विश्वास करा दिया कि उस ज्योतिषी की बात एकदम छलकपट से भरी थी।

वजीर ने अपनी बात इतने अच्छे ढग से पेश की कि राजा अपनी भूल समझ गया और पश्चात्ताप करने लगा—हाय मेरी

लाडली बेटी न जाने किस बुरी तरह मरी होगी। अच्छा, उस ज्योतिषी को पकड कर बुलवाओ और शूली पर चढा दो।

वजीर—वह तो अपने पापो के कारण स्वय ही शूली पर चढ गया।

यह कह कर वजीर ने उसके शव को मँगवाया और राजा के सामने रखवा दिया।

राजा उसे देख कर चकित रह गया। वह इस पहेली को समझ नही सका कि आखिर मामला क्या है और यह किस प्रकार मर गया ?

दुखित एव विस्मित अवस्था मे राजा ने कहा—यह तो मरा सो ठीक, मगर दुष्ट ने राजकुमारी को भी मरवा डाला ! हाय मेरी भोली कन्या !

उपयुक्त समय समझ कर वजीर ने कहा—महाराज, आप सताप न करे। राजकुमारी जी सकुशल है, यह हम लोगो का बड़ा सौभाग्य है।

यह कह कर वजीर ने राजकुमारी को महल से बुलवाया और कहा—महाराज, सम्भालिए इस रत्न को।

थोडी देर तक सन्नाटा रहा। जब राजकुमारी चली गई और एकान्त हो गया तो वजीर ने राजा को पूरा वृत्तान्त सुना कर कहा मै उस ब्राह्मण की दुरभिसन्धि को उसी समय ताड गया था। मगर आप को भावावेश मे देख कर रहस्योद्‌घाटन नही कर सका।

पूरा वृत्तान्त सुनकर राजा ने कहा—धन्य है तुम्हारी बुद्धि वजीर ! अगर तुम न होते तो कितना गजब हो गया होता !

यह पिशाच ब्राह्मण मेरी हीरा-सी बेटी की न जाने क्या दुर्गति करता !

यह कह कर राजा ने वजीर को बहुत इनाम दिया और उसके प्रति अतिशय कृतज्ञता प्रकट की ।

सज्जनो ! यह अन्त करण सब से खोटा है । जिस मन मे ऐसे विकार छिपे रहते है, उससे बढ कर निकृष्ट और कौन हो सकता है ?

अत्यन्त उत्कट पाप का फल तत्काल भी मिल जाता है । वह ब्राह्मण एक पवित्र कन्या का धर्म भ्रष्ट करने जा रहा था तो स्वयं ही नष्ट हो गया । जो दियासलाई दूसरे को जलाने जाती है, वह स्वय पहले जल जाती है ।

सच है, मोहान्ध मनुष्य क्या-क्या दुष्कर्म नही कर डालता ? वह भयानक से भयानक पातक करने से भी नही हिचकता है। कहा भी है—

चिन्तातुराणा न सुख न निद्रा,
क्षुधातुराणा न बल न तेज ।
अर्थातुराणा स्वजनो न बन्धु,
कामातुराणा न भय न लज्जा ।।

अर्थात्—जो व्यक्ति चिन्ता से सताया जा रहा हो उसे नीद नही आती है । जो भूख से पीडित रहता है और कभी भरपेट भोजन नही पाता, उसके शरीर मे बल नही होता, शरीर कान्तियुक्त नही होता । जो धन के चक्कर मे पड़ा है, लोभ से व्यथित है, उसका न कोई भाई है, न कोई स्वजन है । वह तो मानो समदृष्टि बन जाता है अर्थात् एक ही नजर से सबको देखता है, पराये को भी लूटता है

और स्वजनो को भी लूटता है। जो काम से पीडित होता है, जो विषय विकारो से व्यथित है, वह सभी मर्यादाओ का उल्लघन कर देता है। उसे न लज्जा होती है, न लोक-परलोक का भय ही रहता है। वह ऐसे अधम कृत्य करने मे भी सकोच नही करता जिन्हे सुन कर भले आदमियो को आश्चर्य होता है। वह लज्जा-शर्म को खुले बाजार मे बेच चुका होता है। शास्त्र मे कहा है—

लज्जा दया सयम बभचेर।

यदि मनुष्य मे लाज है, शर्म है, गैरत है, कुलीनता है तो उस के हृदय मे दया का स्रोत भी वहता है—सयम भी होता है। ऐसा व्यक्ति यदि साधु हो तो सोचता है—मैंने घर छोडा है, कुटुम्ब का परित्याग किया है, सयम पालन करने की महाप्रतिज्ञा अगीकार की है। जब मैने दीक्षा ली थी तो लोग जयजयकार करते थे और मेरे घर वाले मोह के कारण गम्भीर और व्यथित थे। वह दिन मुझे भूल नही जाना चाहिए।

गौतम की माता ने कहा था—अगज! तू मुझे रुला रहा है, पर ऐसी करनी करना कि भविष्य मे किसी दूसरी माता को रुदन न करना पडे। माता का यह भावपूर्ण उद्‌गार उनके कानो मे निरन्तर गूजता रहा और उन्होने ऐसी करनी की कि उसी जन्म से करनी कर अजर-अमर हो गए। सब बन्धनो को तोड़कर मोक्ष मे चले गए और फिर किसी माता को रुलाना और कष्ट नही देना पडा।

यद्यपि आज इस क्षेत्र मे मोक्ष नही प्राप्त होता, किन्तु करनी तो निष्फल नही हो सकती। करनी करोगे तो लम्बे सफर को नजदीक तो कर ही लोगे। इसके विपरीत, यह जीवन ठीक न होगा तो सफर और अधिक लम्बा हो सकता है।

साधु वन जाने मात्र से काम नही चलता। दुकान मे माल होना चाहिए। इसी प्रकार आँखो मे शर्म होनी चाहिए, सघ की शर्म होनी चाहिए और सोचना चाहिए कि ऐसा करने से मेरा जीवन पिछड जाएगा। यह अवसर वडी मुश्किल से हस्तगत हुआ है, अतएव धर्म और लोकव्यवहार से विरुद्ध कोई कार्य नही करना चाहिए, जिससे शान मे वट्टा लगे।

समय तो व्यतीत हो जाने वाला है। अच्छाई से भी गुजर जाएगा और बुराई से भी गुजर जाएगा। मगर गुजरने गुज़रने मे अन्तर होता है। एक तो घी गिर जाए नए मूग की खिचडी मे, जिसे खा लेने मे शरीर मे कान्ति आ जाती है और एक घी गिरे रेत मे, जो वेकार हो जाता है। किसी काम नही आता। इसी प्रकार हमारा जीवन यदि धर्म-साधना मे वीत रहा है तो अवश्य वीतने दो। वह सार्थक है और उचित काम मे लग रहा है। किन्तु अफसोस तो तव होगा यदि वह धूल मे गिर गया।

सज्जनो! इस महामहिम जीवन को धूलिधूसरित न करते हुए अमरपद की प्राप्ति के पथ पर अग्रसर करो। इस जीवन को वनाने का यही मौका है। मगर इसे वनाने के लिए विपय-विकारो से विमुख होना पड़ेगा। ये विपय-विकार मनुष्य को धोखा दे रहे है। इनके वशवर्त्ती हुए पुरुप को न लाज रहती है, न भय रहता है। वह वाचाल हो जाता है, वेपरवाह हो जाता है और हिरण की तरह चौकड़ी भरने लगता है। अतएव जीवन को नियन्त्रित रखने की वहुत आवश्यकता है।

तो जैसे अन्त करण परममित्र और परमशत्रु है, उसी प्रकार जीभ भी है। यह सत्य और मधुर भापा का उच्चारण करे तव तो

परम मित्र है और यदि अनिष्ट, असत्य और अप्रशस्त शब्दो का प्रयोग करे तो यही सर्वोत्कृष्ट शत्रु भी है।

हाँ, तो शास्त्रो मे उल्लेख है कि चार घातिया कर्मो को •नष्ट कर देने के पश्चात् आत्मा सयोगी केवली वन जाता है और उस समय सिर्फ चार अघातिया कर्म ही शेष रह जाते हैं। सयोगी केवली अवस्था मे मन, वचन, काय के योग तो बने रहते है, किन्तु उनकी दुष्प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती है। बुरी प्रवृत्तियो का काला मोहनीय कर्म था और जव वह नही रहा तो कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है ? उस अवस्था मे सिर्फ एक ही कर्म का बन्ध होता है, अर्थात् वेदनीय कर्म ही बँधता है। यद्यपि केवलज्ञान हो गया है, फिर भी शरीर तो विद्यमान ही है और शरीर सम्वन्धी क्रियाएँ भी करनी ही पडती है। अलवत्ता मोह क्षीण हो जाने से शरीर के प्रति आसक्ति नही होती।

केवलज्ञानी ऐसे अनासक्त और अलिप्त रहते हैं, जैसे पानी मे कमल। यद्यपि कमल पानी मे ही रहता है और पानी के साथ उसका सम्बन्ध है, फिर भी वह पानी मे लिप्त नही होता और कीचड से लिप्त नही होता। अलग-थलग ही अपना अस्तित्व रखता है। पानी की एक वूद को भी वह अपने ऊपर टिकने नही देता।

ऐसी स्थिति मे केवलज्ञानियो को जो वेदनीय कर्म का वन्ध होता है, वह भी टिकाऊ नही होता। कर्म मे स्थिति पडने का कारण कषाय है और केवली अवस्था मे कषाय रहता नही है। अतएव वेद-नीय कर्म आता है और चला जाता है। एक समय मे वँधता है, दूसरे समय मे वेदन कर लेते है और फिर निर्जरा कर डालते है। वहाँ तो चट रोटी पट दाल वाली कहावत चरितार्थ होती है। साहूकार का लक्षण ही यह है कि किसी से ले ले तो फौरन चुका भी दे।

सयोग केवली की आत्मा मे इतनी चिकनास ही नही रहती कि आए हुए कर्म चिपक सके। वे कर्म तो लकडी के बुरादे के लड्डू के समान होते है। उन्हे दीवार पर मारा जाए तो दीवार का स्पर्श करके गिर जाते है। कदाचित् कोई कण रह गया तो वह भी हवा का स्पर्श होते ही गिर जाता है। इस प्रकार उनके पहले समय में वन्ध होता है, दूसरे सम्वन्ध मे वेदन और तीसरे समय मे निर्जरा हो जाती है। तो वन्ध, उदय, उदीरणा और निर्जरा सभी कुछ तीन समय मे हो जाता है।

तेरहवे गुणस्थान से ऊपर उठ कर जव वे चौदहवे गुणस्थान मे पहुँचते है तो मन, वचन और काय के योगो से भी मुक्त हो जाते है और पाँच ह्रस्व स्वरो के मध्यम रीति से उच्चारण करने मे जितना समय लगता है, उतने समय ठहर कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

सज्जनो! यह साधना वडी कठिन है, मगर जो पुरुषार्थ करता है, उसे सफलता भी जरूर मिलती है। कोरी वाते करने से काम नही चलता। धीमी चाल धीमी है क्या, आएगी मजिल जरूर खौफ गिर जाने का भी तो तेज रफ्तारी मे है धीमे ही सही, मगर पैर वढाते चलने से लम्बा रास्ता भी तय हो ही जाता है। खडे-खडे रास्ता तय नही होता। सर्वप्रथम आत्मा को आत्माभिमुख करना चाहिए। जो अनात्मभाव को त्याग कर आत्मभाव मे आते है और त्रिदोषो को दूर करते हैं, वे ससार-समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
२५—१०—५६